वक्तव्य

प्रस्तुत निबन्धो मे मैंने हिन्दी-साहित्य मे प्रवाहित चिन्तन-धाराओ तथा स्रष्टा कलाकारो के कृतित्व के मूल्यांकन का प्रयास किया है।

आधुनिक साहित्य के विस्तृत मूल्यांकन की जरूरत है। इसी मे हमारे उस सौन्दर्य-शास्त्र की परीक्षा होगी जिसे हम साहित्य पर लागू करना और विकसित करना चाहते हैं। इसी दिशा में—प्रस्तुत निबन्ध आपके समक्ष हैं— आशा है पसन्द करेंगे।

इनमें से कुछ निबन्धो का आंशिक प्रकाशन 'वीणा' में राजकिशोर, प्रो० प्रेमनारायण अवस्थी प्रभृति नामों से हो चुका है जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

—रामेश्वर शर्मा

क्रम

द्वितीय संस्करण की भूमिका

राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य का यह द्वितीय संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। लम्बे समय से शोधार्थी तथा समीक्षकों के मध्य इसकी अपेक्षा थी। इस संस्करण को प्रस्तुत करते समय इस तथ्य का पूरा ध्यान रखा गया है कि प्रथम संस्करण यथासाध्य अविकल रूप में ही प्रस्तुत किया जाए ताकि आने वाले युग के अध्येता को सुविधा रहे।

हिन्दी जगत ने जिस प्रकार मेरे इस प्रथम प्रयास को मान दिया तदर्थ लेखक हिन्दी संसार के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

प्रस्तुत पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरे प्रिय शिष्य डा० हरि मौर्य ने जो परिश्रम किया तदर्थ उनके हृदय से साधुवाद। ग्रंथ का द्वितीय संस्करण छापने का दायित्व वहन करने का जो गुरुतर दायित्व भाई दिग्दर्शन चरणजी जैन ने उठाया तदर्थ अन्तःकरणपूर्वक धन्यवाद देता हूँ।

—रामेश्वर शर्मा

नागपुर
10 मई, 1985

रामदयाल बजाज को

मनोविश्लेषण शास्त्र और हिन्दी आलोचना

शुक्ल जी के बाद हिन्दी की भगीरथी में बहुत-सा पानी बह गया है और अनेकों नए झरनों का जल आकर उसमें समाहित हो गया है। हिन्दी आलोचना की धारा में इन नवागत झरनों का जल अभी मिलकर एकरूप नहीं हो पाया है, और इसीलिए समीक्षा के एक मिले-जुले रूप का प्रायः अभाव-सा है। समीक्षा की इस भगीरथी में इन झरनों के जल का स्वरूप स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् दिखायी पड़ता है। अतः अपने मूल रूप में यह धारा बहुत चौड़ी हो गई है तथा विस्तृत एवं व्यापक रूप धारण कर गंगासागर मिलन की भाँति सहस्राभिमुखी होकर बह रही है। निश्चय ही आज हिन्दी में इतने प्रकार की आलोचना प्रणालियों का प्रचलित होना, उसके विकास, प्रगति, पुष्टता और उज्ज्वल भविष्य का परिचायक है। आज हमारे साहित्य की समीक्षा की धारा समतल भूमि पर बह रही है और उसने सारे समतल मैदान पर बाढ़ की उर्वर मृत्तिका बिछा दी है, जिसमें नए साहित्य की पौध लहलहाकर उग रही है।

आलोचना की इस धारा में कुछ जल विदेशी प्रभाव से मुक्त भी है, तो कुछ पूर्णत विदेशी छाप तथा रंग लिए हुए भी। कारण स्पष्ट है। आज के युग में देशों की सीमाएँ एक झटके के साथ टूट रही हैं। विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप विश्व की सम्बद्धता बढ़ती जा रही है और उसका प्रभाव हमारे वैचारिक जीवन पर अनिवार्य रूप से पड़ रहा है।

आज की हिन्दी समीक्षा पर जिन विचारकों का प्रभाव पड़ा उनमें कार्ल मार्क्स, सिग्मंड फ्राइड, आई० ए० रिचार्ड्स और टी० एस० इलियट प्रमुख हैं। मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित होकर आगे बढ़ने वाली आलोचना की धारा को प्रगतिवादी नाम दिया गया। इस पद्धति की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। अभी यह प्रणाली पथ में है, परन्तु कालान्तर में जैसे ही इसका स्वरूप व्यापक हुआ, यह स्पष्ट हो जायेगा कि शुक्लजी की विरासत इस पद्धति के आलोचकों को प्राप्त हुई है।

फ्रायड की विचारधारा को लेकर हिन्दी में कोई आलोचना की धारा प्रवाहित नहीं हुई। परन्तु हिन्दी में मनोवैज्ञानिक आलोचना की जो धारा चल रही है उसने आंशिक रूप में फ्रायड की विचारधारा को अपनाया है। केवल फ्रायडवादी आलोचना पद्धति को लेकर आलोचना करने वालों में अकेले डॉ० नगेन्द्र हैं, जो अपने आपको मनोविज्ञान के क्षेत्र में समन्वयवादी कहते हुए भी एकान्त रूप से फ्रायड की विचारधारा के अनुयायी हैं और शुद्ध मनोविज्ञान को ही कला समीक्षा का मापदण्ड मानते हैं। फ्रायड की विचारधारा का हिन्दी साहित्य के अन्य क्षेत्रों पर तो बड़े व्यापक पैमाने पर प्रभाव पड़ा है और उपन्यास, कहानी आदि में दिन भरकर अन्तर्मन का रहस्य दिखाया जाने लगा है। एक आलोचक के शब्दों में व्यापक रूप से हिन्दी में 'वहिनबाजी' प्रचलित हो गई है। पर आलोचना के क्षेत्र में इसकी दशा बहुत हीन है। इस आलोचना पद्धति का विश्लेषण करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम कला और साहित्य के सम्बन्ध में फ्रायड के दृष्टिकोण को समझ लें।

आधुनिक युग के महान् विचारकों में, जिनकी विचारधारा का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा है, फ्रायड भी एक हैं। उन्हें आधुनिक मनोविज्ञान का पिता कहा जाता है। यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान फ्रायड की विचारधारा से काफी आगे बढ़ चुका है, और फ्रायड की विचारधारा को पूर्ण रूप से वैज्ञानिक स्वीकार नहीं करता। जीवन की मूल प्रेरणाओं के ही सम्बन्ध में एडलर और युग जो कि फ्रायड के ही शिष्य थे, की विचारधारा फ्रायड के सिद्धान्तों के विपरीत है। तथापि फ्रायड की विचारधारा का आधुनिक मनोविज्ञान पर भारी प्रभाव पड़ा है। मनोविज्ञान की वह शाखा जो फ्रायड की विचारधारा को लेकर चली है 'मनोविश्लेषण-शास्त्र' कहलाती है। अस्तु, फ्रायडवादी आलोचना को ही केवल मनोवैज्ञानिक मानना एक भारी भ्रम है। फ्रायड का मनोविश्लेषण आधुनिक युग के व्यापक मनोविज्ञान का एक अंग मात्र है।

यह एक विचारणीय प्रश्न है कि वह सामाजिक परिस्थिति आखिर किन वस्तुओं की बनी हुई थी, जिसने कि फ्रायड, मार्क्स और डार्विन की विचारधारा को जन्म दिया और आगे बढ़ाया। फ्रायड, मार्क्स और डार्विन तीनों ने ही अपने युग की चिन्तना को एक झटके के साथ एक दूसरी दिशा में मोड़ दिया था और [illegible] युग की विचार-भूमि [illegible] एक साथ [illegible] हुई, टूटी और बिखर गई। यह युग बुद्धिवाद का था। विज्ञान विश्लेषण की प्रक्रिया को जन्म दे चुका था। [illegible] के इस युग में मनुष्य ऊपर की सतह पर विचार कर सन्तुष्ट नहीं रह सकता था। [illegible] अन्दर अन्वेषण करना विश्लेषण युग की प्रधान विशेषता थी। [illegible] ऊपरी सतह के नीचे छुपे [illegible]

मान्यता प्राप्त नहीं है उन्हें हमारा चेतन मन सामाजिक प्रभाव के कारण दमि
करता रहता है और फलतः वे मन की इस पर्त में आकर केन्द्रित हो जाती हैं। म
की इन दमित अविवेकशील शक्तियों के कुछ निश्चित नियम भी हैं जो प्रयत्
द्वारा बुद्धिगम्य किये जा सकते हैं।

मन की इन पर्तों की स्थिति का विश्लेषण करते हुए फ्रायड ने एक शिलाख
का उदाहरण दिया है जो पानी में तैरता रहता है और जिसका केवल एक चतुर्थां
ही जल के ऊपर है तथा शेष जल के नीचे दृष्टि के क्षेत्र से बाहर रहता है। ठी
इसी प्रकार मन का चतुर्थांश के करीब अर्थात् बहुत छोटा-सा हिस्सा चेतन है तथ
शेष अतल, अज्ञेय और रहस्यपूर्ण अवचेतन। अर्द्धचेतन इन दोनों के बीच की पर्
है। इसे फ्रायड ने द्वार (Door) कहा है। इसी में से होकर अवचेतन की प्रवृत्तियाँ
चेतन में प्रवेश करने का प्रयत्न करती हैं और उसके सुषुप्ति-काल में अभिव्यक्ति
होती है। यह स्वप्न या कला-सृजन की अवस्था है।

हमारे चेतन और अवचेतन मन में दो मूल अन्तर विद्यमान हैं। १. अवचेतन
मन हमारे चेतन मन की अपेक्षा बृहदाकार तथा शक्तिशाली है। २. दोनों का
स्वरूप पूर्णतः पृथक्-पृथक् है अर्थात् दोनों में रहनेवाली इच्छाएँ तथा मनोभावनाएँ
परस्पर विपरीत तथा द्वन्द्वात्मक हैं। इन्हीं के फलस्वरूप व्यक्ति के चेतन तथा
अवचेतन मन में सर्वेव संघर्ष चलता रहता है। हमारे बाह्य जीवन का संघर्ष इसी
आन्तरिक संघर्ष की छाया है। अपनी इसी बात को दर्शन के क्षेत्र में ले जाकर
फ्रायड की काण्ट के दर्शन की पुनरावृत्ति की और अवचेतन मन को काण्ट प्रति-
पादित 'प्रतीयमान' जग की सत्ता माना।

चेतन मन में हमारी सभी इच्छाएँ नहीं रहतीं। इस स्तर पर हमारी वे ही
इच्छाएँ रहती हैं जो प्रचलित सामाजिक नैतिकता की कसौटी पर खरी उतरती हैं
और जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त है। किन्तु अवचेतन मन हमारी सभी दमित,
निर्वासित एवं अतृप्त इच्छाओं का कोष है। वे सभी इच्छाएँ यहाँ आकर एकत्रित
हो जाती हैं जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। दूसरे शब्दों में, अवचेतन मन
व्यक्ति के जीवन का असामाजिक भाग है।

अतएव अवचेतन मन में स्थित ये असामाजिक इच्छाएँ बार-बार चेतन मन
में आने का प्रयास करती हैं। इसकी रोकथाम के लिए फ्रायड ने एक 'प्रतिबन्धक'
की कल्पना की जो हमारी सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है। इसे मनोविश्लेषकों
ने सेंसर (तर्क) भी कहा है। यह हमारी दमित वासनाओं को चेतन में प्रवेश
करने से रोकता है। इस प्रकार अवचेतन की समस्त असामाजिक इच्छाओं का
दमन निरन्तर होता रहता है। यही दमन आन्तरिक तथा बाह्य संघर्ष का प्रतीक
है। इससे विभिन्न मानसिक ग्रन्थियों की सृष्टि होती है जिनकी अन्तिम परिणति,
[illegible]

स्तोरी के विरुद्ध बनाए प्रतिबन्धो की भाँति ही यह प्रतिबन्ध नाम मात्र को रह जाता है और अचेतन स्थिति दमित इच्छाएँ अपने निकास का पथ खोज लेती हैं।

श्रेष्ठीकरण—इन दमित इच्छाओं को जबकि वे अचेतन से अभिव्यक्त होना चाहती हैं, अपने रूप में परिवर्तन करना अनिवार्य है। क्योंकि उनके मौलिक रूप में समाज उन्हें किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं कर सकता। इस रूप-परिवर्तन का कारण हमारे अवचेतन और चेतन मन का पारस्परिक समझौता है, जिसमें हीन घृणित तथा असामाजिक इच्छाएँ भी श्रेष्ठ रूप धारण करके आती हैं। फ्रायड ने इच्छाओं के इस प्रकार श्रेष्ठीकरण को 'Sublimation' कहा है। हिन्दी में इसे विभिन्न नाम दिये गये हैं। नगेन्द्र जी ने इसे आत्म-सस्कार कहा है। फ्रायड के अनुसार कला भी इसी श्रेष्ठीकरण का एक अंग है।

फ्रायड द्वारा की गई मन के अवचेतन स्तर की कल्पना मनोविज्ञान के क्षेत्र में कोई नई चीज नहीं है। फ्रायड से वर्षों पहले हेनरी मोडस्ले आदि कई विद्वानो ने इन्द्रियों द्वारा सभी सस्कारो के मस्तिष्क में विलीन होने की बात कही थी और बतलाया था कि ये विलीन सस्कार की चेतना से तो एक साथ लुप्त हो जाते हैं किन्तु नष्ट नहीं होते। उनकी स्थिति वायुमडल में वाष्प बनकर विलीन हुए पेट्रोल की तरह की रहती है जिन्हे कभी भी एक चिन्गारी लगाकर प्रज्ज्वलित किया जा सकता है।

इस प्रकार फ्रायड के इस दमित वासना के अवचेतन से चेतन में आने के मनोविज्ञान को क्रांतिकारी नही माना जा सकता। क्योंकि एक ओर वह जहाँ नूतनता से रिक्त है, वहीं दूसरी ओर वह ईसाइयत के सिद्धांतो की पुष्टि भी करता दिखाई देता है। फ्रायड के मतानुसार यद्यपि अवचेतन मे रहने वाली इच्छाएँ असामाजिक हैं और उन्हें चेतन मन ने अपने क्षेत्र से निर्वासित कर दिया है, तथापि वे उसकी सीमा में किसी न किसी प्रकार प्रवेश कर ही जाना चाहती हैं। यह धारणा ईसाइयत के शैतान के प्रसग से मिलती है जिसे यहोवा ने अपने राज्य से निर्वासित कर दिया है, किन्तु फिर भी वह मौका पाते ही अपने पाप-कर्म पर उतारू हो ही जाता है।

फ्रायड इन्ही असामाजिक प्रवृत्तियो को जीवन की मूल प्रेरणाप्रद शक्ति मानता है और इस प्रकार व्यक्ति और समाज के पारस्परिक द्वन्द्व पर अपने मनोविज्ञान को खड़ा करता है।

फ्रायड ने मन को तीन भागों में और विभाजित किया है। वे इस प्रकार हैं, १. अहं २. समष्टिगत नैतिक अहं, ३ इड: अवचेतन प्रवाह। अहं को फ्रायड ने चेतन की ही अभिव्यक्ति कहा है। अहं सदैव इस ओर प्रयत्नशील रहता है कि समष्टिगत नैतिक अहं मे सामजस्य स्थापित हो। इस प्रकार सतुलन स्थापित करने के लिए अवचेतन प्रवाह की प्रवृत्तियो का दमन आवश्यक हो जाता है। ये

प्रवृत्तियाँ आदिम होती हैं। 'आदिम' शब्द यहाँ महत्त्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि फ्रायड मन के अवचेतन रूप को पूर्णत अपरिवर्तनशील मानते हैं और आज भी उसकी प्रवृत्तियों को आदिम युग की ही मानते हैं। सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की इन आदिकालीन प्रवृत्तियों का दमन तीव्रतर होता जा रहा है और फलस्वरूप आज के मानव के विक्षिप्त होने की सभावनाएँ अधिक बढ़ गई हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति की बर्बर तथा असामाजिक प्रवृत्तियों का दमन करना उसके पागल बनाने की समावना को और अधिक बढ़ाना है। और सभ्यता के विकास ने इन सम्भावनाओ को और अधिक विकसित कर दिया है। धन्य रे मनोविज्ञान और धन्य डॉ० नगेन्द्र जिन्होंने इसे इतनी श्रद्धा से पकड़ा। कला और सस्कृति के निर्माण के सम्बन्ध मे फ्रायड का मत है कि कला और सस्कृति का निर्माण तब तक ही होता रहता है जब तक व्यक्ति अपने अवचेतन की असामाजिक दमित काम कुण्ठाओं के श्रेष्ठीकरण मे समर्थ रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कला और सस्कृति का निर्माण तब तक ही होता है जब तक अवचेतन स्थित असामाजिक अश चोरी-चुपके निकास पाता रहे। फ्रायड की शब्दावली मे 'सब्लीमेशन' होता रहे। अर्थात् कला और सस्कृति फ्रायड के मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति की असामाजिकता की श्रेष्ठीकरण प्राप्त अभिव्यक्ति है। कला और सस्कृति की इस कुत्सित व्याख्या को अपनाकर प्रगतिवाद के विरोधी फ्रायड भक्त बनकर भारतीयता की रक्षा का दम भरते हैं और आत्म-सस्कार शब्द के आवरण मे दमित काम-कुण्ठाओ को ही कला और सस्कृति मानते हैं। गोया आज तक की सस्कृति, कला और साहित्य व्यक्ति की असामाजिकता की ही अभिव्यक्ति हो।

'काम' को फ्रायड ने जीवन की मूल प्रेरणा कहा है। व्यक्ति के अन्तर्मन मे यही काम सम्बन्धी वर्जनाए घनीभूत हैं। यह तो निश्चित ही है कि समाज व्यक्ति की इस प्रकार की यौन-वर्जनाओ की स्वच्छन्दता को मान्यता नहीं देता है। फलत व्यक्ति और समाज का द्वन्द्व होता है। विकास के पथ मे सामाजिक रूढि की परम्परा अपने को परिवर्तित नही कर पाती और इसी कारण व्यक्ति की यौन-वर्जनाओ का उससे सघर्ष होता है। इस संघर्ष मे व्यक्ति को पराजय निश्चित है।

काम की मूल ग्रंथि के विकास की तीन स्थितियाँ हैं, १ आत्म-सम्मोह २. मातृरति और ३ विजातीय रति। आत्म-सम्मोह में व्यक्ति स्वय पर आसक्त रहता है। इस अवस्था के बाद लडका अपनी माँ से तथा लडकी अपने पिता के प्रति आसक्त रहती है। यह मातृरति की अवस्था है। इसे फ्रायड ने एक ग्रीक योद्धा के नाम पर ओडीपस ग्रन्थि कहा है। इसमे कभी-कभी विपर्यय के उदाहरण मिलते हैं। जब लडका अपने पर नारीत्व का तथा लडकी पुरुषत्व का आरोप ... भावन करके पिता या माता से प्रेम तथा घृणा करते हैं।

फ्रायड स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार के यौन-सम्बन्धों को सामाजिक नैतिकता मान्यता नही देती। अस्तु ज्यों ही व्यक्ति की सामाजिक चेतना जागरूक हुई कि इस प्रकार की भावनाएँ नीचे तल मे अर्थात् अवचेतन मे उतरना प्रारम्भ कर देती हैं। यहाँ पर वे एक सीमा तक घुटती रहती है और उनकी यह घुटन उन्हें मानसिक ग्रंथियों के रूप मे परिवर्तित कर देती है। इन मानसिक ग्रन्थियों के प्रकटीकरण के लिए फ्रायड ने कुछ रास्तों की कल्पना की है, वे हैं—कला सृजन, स्वप्न, दैनिक जीवन की भूलें तथा विक्षेप आदि। फ्रायड के मतानुसार मातृरति की अवस्था से विजातीय रति की अवस्था तक पहुँचने के बीच मे स्व-वर्गीय रति की स्थिति आती है।

फ्रायड के इसी मूल मनोविज्ञान को दृष्टि मे रखते हुए हमे उनके कला सम्बन्धी विचारो को जानना है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि फ्रायड के अनुसार कला दमित तथा असामाजिक कुण्ठाओ का श्रेष्ठीकरण-कृत स्वरूप है। सामाजिक मान्यताओं के कारण हमारा चेतन मन हमारे मन की अविवेकशील काम-भावना को दबाता रहता है। यही दमित काम वासना मानसिक ग्रन्थियो का रूप धर अवचेतन में जम जाती है, और वहाँ से अपने निकास का अहर्निश प्रयत्न करती रहती है। इस प्रयत्न में उसे समष्टिगत नैतिक अह से समझौता करना पड़ता है। फलस्वरूप उनके स्वरूप मे काफी अन्तर हो जाता है। अत ग्रन्थियाँ प्रतीक रूप मे प्रकट होकर स्वप्न मे छायाचित्रो तथा कविता मे भाव-चित्रो की सृष्टि करती हैं। हिन्दी के महाकवि तुलसीदास जहाँ भी सौन्दर्य का चित्रण करते हैं वे केवल भावचित्र प्रस्तुत करके रह जाते हैं, जैसे, 'छवि गृह दीप-शिखा जनु बरई' या 'शोभा रज्जु मदर सिगारू' वाला रूपक। फ्रायडवादी आलोचक इसे अतृप्त-काम-ग्रन्थि की ही अभिव्यक्ति कहेगा।

कला के उद्गम पर मनोविश्लेषक फ्रायड का दृष्टिकोण हम देख चुके हैं। उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे उनका मत है कि मानसिक ग्रंथियों की इस प्रकार की श्रेष्ठीकरण कृत अभिव्यक्ति मन को केवल एक झूठा आश्वासन है, कल्पना है, विभ्रम है, धोखा है। इस प्रकार का समझौता ग्रंथियो की अभिव्यक्ति का प्रयक पथ न होकर एक प्रकार का भुलावा है। कारण यही है कि आखिर हम हैं तो सामाजिक प्राणी ही न ? अस्तु अन्तर्वृत्तियो का दमन होने पर भी हम उससे विवशतापूर्ण समझौता बनाये रखना चाहते हैं। अतः मानसिक ग्रन्थियो की इस प्रकार हुई श्रेष्ठीकरण-कृत अभिव्यक्ति न तो उसकी वास्तविक और प्रकृत अभिव्यक्ति है और न उससे इन प्रवृत्तियों को सन्तोष ही होगा, न उपभोग ही। अस्तु फ्रायड ने इसीलिए कला को एक विभ्रम कहा है।

"These illusion are derived from the life of phantasy which, at the time when the sense of reality developed, was

प्रकार रख सकते हैं ·

(१) मूल प्रेरणा—जीवन की मूल प्रेरणा काम-वासना है। वही दमित काम कुण्ठाओं के रूप मे कला की मूल प्रेरणा है।

(२) स्वरूप—कला दमित काम-वासना का श्रेष्ठीकरण किया हुआ स्वरूप है जिसमे इच्छाएँ समाज समझौता करने के लिए रूप-परिवर्तन करके उपस्थित होती हैं। इस प्रकार के रूप-परिवर्तन के द्वारा दमित इच्छाओ की अभिव्यक्ति का पथ प्रकृत पथ नहीं है, वरन एक भुलावा है, विभ्रम है।

(३) शैली—कला के क्षेत्र मे दमित काम-चेतना प्रतीकों के सहारे अभिव्यक्त होती है। अत कला-सृजन में प्रतीकों का बहुत बडा भाग है।

(४) जीवन-दर्शन—कलाकार जीवन संघर्ष से पराङ्मुख होकर इस प्रकार छायालोक की सृष्टि करता है और वहाँ पर अपनी कल्पना का सतरंगी ताना-बाना बुना करता है। कला जीवन संघर्ष से पलायन है।

(५) कला का नैतिकता या धर्म आदि से कोई सम्बन्ध नही है।

संक्षेप मे, फ्रायड के कला सम्बन्धी यही विचार हैं जिनके आधार पर हिन्दी मे एक नूतन आलोचना प्रणाली को विकसित किया जा रहा है। ये सिद्धान्त कहाँ तक ठीक हैं और साहित्यालोचन के लिए किस सीमा तक उपयुक्त हैं यह यहाँ हमारा विश्लेष्य नहीं। क्योंकि अभी यह प्रणाली पथ में ही है और जब तक उसका पूर्ण विकास न हो जाय तब तक उसके सम्बन्ध मे निर्णय देना उचित नहीं होगा।

हिन्दी में फ्रायड के इस सिद्धान्त को आलोचना के क्षेत्र मे व्यवहृत करने वाले आलोचकों में डॉ० नगेन्द्र, इलाचन्द्र जी (एक सीमा तक ही) तथा अज्ञेय जी प्रमुख हैं। इनमे डॉ० नगेन्द्र फ्रायड के मनोविज्ञान मात्र को केवल शुद्ध मनोविज्ञान मानने वाले हैं। साहित्य की मूल प्रेरणा के सम्बन्ध मे उनके विचार देखिए—

(१) साहित्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है।

(२) यह प्रेरणा [illegible] के अन्तरग, अर्थात उसके भीतर होने वाले आत्म [illegible] उद्भूत होती है कहीं बाहर से जान-बूझकर [illegible]

(३) [illegible] मे होता है। उनमे काम वृत्ति का [illegible] साहित्य तो मूलत. [illegible] असदिग्ध

एकांगी रहते हुए भी हिन्दी के क्षेत्र में हलचल उत्पन्न करते रहते हैं। रूढ़ि प्रेम और प्रयोगशीलता दोनों ही उनके व्यक्तित्व के दो अंग हैं। अपने यौन सम्बन्धी दृष्टिकोण में वे फ्रायड से प्रभावित हैं और सामाजिक रूढ़ि के विरोधी दिखाई देते हैं। वही अपने इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण में इलियट के भक्त बनकर रूढ़ि की दुहाई देते *नजर आते हैं। हिन्दी में केशवदास को किसी ने सर्वाधिक* महत्व दिया तो अज्ञेय ने। अज्ञेय को केशवदास की विविध छन्दमयी रचना में जो प्रयोगशीलता जँची कि वे बाग-बाग हो गए। किन्तु यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय अपने आलोचनात्मक निबन्धों में फ्रायड के मनोविज्ञान का उपयोग करने में प्राय. असफल रहे हैं, या उन्होंने किया ही नहीं। उनका महादेवी और मीरा पर लिखा गया तुलनात्मक निबन्ध (त्रिशंकु में संग्रहीत) इस तथ्य का साक्षी है।

उपर्युक्त विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि फ्रायड के मनोविज्ञान को लेकर हिन्दी में आलोचना की कोई सशक्त धारा प्रवाहित नहीं हुई है, जिसने हिन्दी के सम्पूर्ण साहित्य को नापा हो। आंशिक रूप में विभिन्न आलोचकों ने फ्रायड के मनोविज्ञान का उपयोग किया है। फ्रायडवादी आलोचना की चर्चा का कारण हिन्दी में प्रवाहित मनोवैज्ञानिक आलोचना की धारा है। जिस पर फ्रायड का काफी प्रभाव पड़ा है और कुछ हिन्दी वालों का भ्रम है जो मनोविज्ञान और फ्रायड के मनोविश्लेषण को एक मानकर चलते हैं। इसी नाते एक *अर्से तक लोग अभी भी इलाचन्द्र जी को फ्रायडवादी कहते हैं।* केवल फ्रायड को आधार मानकर जो आलोचना अभी तक हिन्दी में हुई है वह अत्यन्त अल्प परिमाण में है। केवल डॉ० नगेन्द्र ही ऐसे आलोचक हैं जो पूर्ण रूप से फ्रायड के अनुयायी हैं और उसके मनोविश्लेषण को शुद्ध मनोविज्ञान कहकर साहित्य के मूल्यांकन का प्रयत्न कर रहे हैं और फिर डॉ० नगेन्द्र फ्रायडवादी बने भी तो देर से; पहले तो वे समन्वय की बात सोचते रहे। पर अब कल के रसवादी *डॉ० नगेन्द्र ने* फ्रायड का पल्ला कसकर पकड़ लिया है और अपनी नई आलोचनाओं में वे फ्रायड के मनोविज्ञान को अधिकाधिक लागू करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

आई. ए. रिचर्ड्स और भाव-प्रेषण की समस्या

आत्माभिव्यक्ति और परबोध दोनों ही साहित्य के समान महत्वपूर्ण अंग हैं—दोनों ही ऐसे तत्व हैं, जिन पर न केवल साहित्यकार की सामाजिक चेतना का नियमन तथा वितन्वन होता है वरन् उसके सामाजिक उत्तरदायित्व को स्थिर करने का आधार भी ये ही तत्व हैं। दोनों ही अन्योन्याश्रित तथा परस्पर पूरक हैं।

भाव-प्रेषण की समस्या को ही साहित्य समीक्षकों ने परबोध की समस्या कहा है। कवि या लेखक जब कला सृजन करता है तो उसका ध्येय स्पष्ट रूप से अपना अनुभव दूसरों तक पहुँचाने का रहता है, यह एक निर्विवाद सत्य है और न ही इससे इन्कार ही किया जा सकता है। इसी महान् लक्ष्य की साधना के लिए साहित्यकार अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न साधनों का प्रयोग करता है, विविध माध्यम चुनता है और अपनी बात दूसरों तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है। साहित्य के विविध अंगों के विकास की कहानी, साहित्यकार के इसी प्रयास की कहानी है। कविता से प्रारम्भ हुए साहित्य का प्रवाह आज अनेक स्रोतों में होकर बह रहा है। स्वानुभूत को व्यापक विराट तक पहुँचाने के लिए, नूतन अनुभव की सुष्ठु एवं सफल व्यंजना के लिए, कलाकार ने नाटक और आख्यान-काव्य के माध्यम खोजे। पर जब अभिव्यंजना के ये साधन भी अपूर्ण एवं पर्याप्त सक्षम प्रतीत न हुए तो उपन्यास, कहानी और एकांकी की विधाओं ने जन्म लिया। और उसके बाद स्केच, रिपोर्ताज, ध्वनि नाट्य, गीतिनाट्य, रेडियो-रूपक से लेकर पोएट की कहानी तक न जाने साहित्य के कितने अंग जन्म ले रहे हैं—जो मनुष्य के इसी प्रयास के प्रतिफल हैं। भाषा में शब्दों की अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य आदि शक्तियों का विकास भी इसी क्रम से हुआ। साहित्य के अंगों के विकास के साथ ही भाषा की अभिव्यंजना शक्ति के विकास और उसकी परिवर्तनीयता पर विचार किया जाय तो साहित्य के विकास की गूढ़ और जटिल प्रक्रिया का पता लग सकता है। साहित्य मनुष्य की कितनी गूढ़ और जटिल मानसिक

से निर्मित है, उसे समझने में अधिकांश पाठक असमर्थ हैं। इसके साथ ही 'Conscious Planning' से दूर रहते हुए रहस्यमय मानवीय सम्भावनाओं के आधार पर सन्तुलन प्राप्त करने का जो रहस्यवाद आलोचना के द्वारा उन्होंने काव्य में प्रविष्ट कराया उसने काव्य की अर्थवानता को ही अस्वीकृत कर दिया, जिसके अनुसार कविता में अर्थ का होना कोई आवश्यक वस्तु नहीं है। फिर भी अनुभव को प्रेषित करने पर एक अध्याय लिखा गया। इस रहस्यवाद के अनुसार काव्य अर्थहीन होकर भी भाव की व्यंजना में सक्षम हो सकता है।

रिचर्ड्स की इन स्थापनाओं ने व्यवहार में अत्यन्त हास्यास्पद स्वरूप ग्रहण किया। एक दुरूह, अर्थहीन कविता धारा का प्रवर्तन हुआ जो अपनी अबोधगम्यता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति (कुख्याति) प्राप्त कर चुकी है—इसके प्रवर्तकों में टी० एस० इलियट का प्रमुख स्थान है। देश-देश के अनि सम्य या रिचर्ड्स के शब्दों में आधुनिक युग की व्यापक चेतना के केन्द्र बिन्दु कवियों ने अपने उदरु प्रयत्नों को प्रयोग कहकर अपना यश स्तम्भ खड़ा किया।

इस विवेचन के साथ ही हमें रिचर्ड्स के विवेचन की सीमाओं का अध्ययन करना आवश्यक है—जिनके कारण वह मनीषी विचारक कविता के भविष्य को शून्य कहने के लिए विवश हुआ।

इस प्रश्न पर दो पहलुओं से विचार किया जा सकता है। एक तो यह कि लेखक अपने अनुभव को उसके पूर्णरूप में पाठक तक कैसे पहुँचा सकता है? इस पहलू में ज़ोर इस बात पर है कि अनुभव अपने पूर्णरूप में पाठक तक पहुँचे। उसमें वही तीव्रा अक्षुण्णा रहे जिसका कि लेखक ने अनुभव किया है।

इस कथन पर तीन आपत्तियाँ स्पष्ट हैं—

(१) इस समस्या के रूप में ही परिवर्तन हो जाता है और समस्या भावप्रेष्ठा या परबोध की न रहकर अनुभव के तीखेपन (तीव्रता) की अक्षुण्णाता तथा सुरक्षा की हो जाती है।

(२) दूसरे यह प्रयास मूलतः, हाँ कुछ मनन आधारों और कल्पनाओं पर स्थित है। क्योंकि यह प्रयास भावानुभूति और काव्यानुभूति में पाए जाने वाले अन्तर को मिटा देना चाहता है—ताकि उनकी तीव्रता के स्तरों में भेद न रहे। पर यह प्रयास कदापि सफल नहीं हो सकता, क्योंकि काव्यानुभूति और जीवनानुभूति को मिलाया नहीं जा सकता। व्यवहारिक रूप से देखें तो आज तक सारा साहित्य जो हमारे सम्मुख है उसमें ऐसा एक भी उदाहरण हमें नहीं मिल सकता जिसके सम्बन्ध में हम कह सकें उस काव्य को पढ़कर हम तीव्रता का अनुभव हुआ है। उसकी तीव्रता कवि के अनुभव की तीव्रता के समान है। तुलसी के 'मानस' के शोक-प्रसंगों को पढ़कर अनेक पाठकों को रोता हुआ देखा है—जो इस तथ्य के साक्षी तो है ही कि तुलसी ने अनुभूति को बड़े ही पुष्ट माध्यम से अभिव्यक्त

तुलनात्मक समीक्षा का ऐतिहासिक मार्गचिन्ह : 'साहित्य दर्शन'

तुलनात्मक आलोचना की प्रणाली आज आधुनिक समीक्षा के व्यापक रूप की एक अगमात्र रह गई है। तथापि हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उक्त प्रणाली में हमे आलोचना के सबसे प्रारम्भिक स्वरूप के दर्शन होते हैं, क्योंकि आलोचना का प्रादुर्भाव इसी प्रणाली से हुआ है। इसीलिए हमें उसमें भावयित्री प्रतिभा की प्रारम्भिक चेष्टाओं का कौशल दिखाई पड़ता है। आलोचना का यह प्रारम्भिक स्वरूप लक्ष्य तथा लक्षण दोनों ही प्रकार के साहित्य के सृजन के पश्चात विकसित हुआ। उसके सम्मुख दोनों प्रकार का साहित्य था। वस्तु भी थी और उसके मूल्यांकन के लिए पैमाना या मानदण्ड भी था। अतः आलोचना का यह प्रारम्भिक रूप शास्त्रपरक रहा, लक्षण ग्रन्थों का अनुकरण करके आगे बढ़ा।

संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में इसके जो प्रारम्भिक उदाहरण मिलते हैं वे उसके प्रारम्भिक स्वरूप के परिचायक हैं—

उपमा कालिदासस्य भारवि अर्थ गौरवम्।
दण्डीपद लालित्यम् माघे सन्तित्रयो गुणा.॥

उपर्युक्त श्लोक के सृष्टा के समक्ष एक ओर दण्डी, माघ, भारवि और कालिदास का काव्य है। शास्त्र के माध्यम से वह उन सभी महाकवियों का मूल्यांकन करके अपना मत व्यक्त करता है। आलोचना का प्रारम्भिक स्वरूप सूक्तियों से शुरू होता है, यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है। इन सूक्तियों में पाई जाने वाली भावक की तुलनात्मक दृष्टि स्पष्ट है।

तुलना का अर्थ समानता या असमानता बतलाना या विशेष भावनाओं का निर्देश ही नहीं, वरन् महान् व्यक्तियों को एक स्थल पर लाकर उनका मूल्यांकन करना है। हम किसी कलाकार की ओर तभी आकृष्ट होते हैं जबकि हम उनके भीतर ऐसी विशेषताओं का दर्शन करते हैं जो प्रायः असामान्य हैं, या जिनकी सामान्यता काव्य, दर्शन या विज्ञान के रूप में किसी महान् मानवी सिद्धान्त को

प्राप्त देती है। इसलिए तुलनात्मक आलोचना को अन्य विवेचनाओं के साथ स-
स्मरण रखने की बात है कि वह भावक को सर्वांगीण प्रधान दृष्टि की परिचायक है
जो विभिन्न रचनाओं, प्रवृत्तियों और सिद्धान्तों वाले मनीषियों के प्रदाय विवरण से
ले कुछ ऐसे सूत्र, कुछ ऐसी भावनाएँ लाने के लिए प्रेरित करती है —जिनका
समन्वित रूप समुच्चय के मनन का महान् सिद्धान्त कहा जा सकता है।

साहित्यालोचन के क्षेत्र में इतिहास तक यह पद्धति सिद्धान्त और समीक्षा
का सम्मेलन करके आगे बढ़ी है। इसी कारण केवल मात्र साहित्यिक गुणदर्शनों
या वहिरंग स्थायी, संचारी भावों, अनुभावों, आलम्बन, उद्दीपन तथा नायिका-
भेद की शास्त्रीय सरणियों का अनुसरण करने के कारण यह पद्धति वह कार्य नहीं
कर सकी जो कि वह कर सकती थी। निश्चय ही इसका कारण उसका पुरातन
शास्त्रपरक रूप ही है, और शास्त्र भी वे जिनमें सौन्दर्यबोध के उन मानवी सिद्धान्तों
की कल्पना नहीं जो साहित्य में युग-युग तक प्रेरणा देने की शक्ति उत्पन्न करते
हैं। इन्हीं मूलभूत कमजोरियों के कारण यह पद्धति विज्ञान के विश्लेषण-प्रधान
युग में पीछे पड़ती जा रही है। 'साहित्य दर्शन' के प्रकाशन ने इस पद्धति में परि-
वर्तनों के साथ एक नया मोड़ प्रस्तुत कर दिया है।

श्रीमती शचीरानी गुर्टू द्वारा प्रणीत 'साहित्य दर्शन' हिन्दी की तुलनात्मक
समीक्षा का प्रमुख ग्रन्थ है, जो कि इस पद्धति की समीक्षा में ऐतिहासिक मार्ग-
चिह्न की तरह है। हिन्दी में मिश्रबन्धुओं और पं० पद्मसिंह शर्मा के 'देव और
बिहारी' को लेकर होने वाले विवाद ने इस पद्धति को काफी प्रोत्साहन दिया था।
इसीलिए जब पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सूर तथा तुलसी की तुलना करके तुलसी को
सूर से श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया तथा "सूर सूर तुलसी ससि" दोहे के लेखक को भ्रमर
का प्रेमी कहा तो कई व्यक्ति सूर का पक्ष लेने को उठ खड़े हुए जिससे मूल में
तुलनात्मक समीक्षा का हिन्दी आलोचना पर छाया हुआ व्यापक प्रभाव ही कार्य
कर रहा था। यह तो हुई परम्परा की बात। क्या शचीरानी जी की यह कृति
हिन्दी आलोचना की तुलनात्मक पद्धति की परम्परा में आती है? संक्षेप में इसका
उत्तर है—नहीं। क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ के रचना-कौशल को देखकर यह बात
भली-भाँति प्रकट हो जाती है कि 'साहित्य दर्शन' स्वाभाविक रूप से इस महती
परम्परा का विकास होते हुए भी इतने मौलिक, नवीन तथा विकसित रूप में है
कि यकायक उससे जुड़ा हुआ प्रतीत नहीं होता। इसके साथ ही प्रस्तुत ग्रन्थ की
संयोजना में लेखिका ने जिस चातुर्य से कार्य किया है वह सहज ही उसे एक धरा-
तल पर ले जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में तुलनात्मक समीक्षा कई कदम आगे बढ़ी तथा विकसित हुई
प्रतीत होती है। द्विवेदी-युग में उसका शास्त्र ही मात्र आधार था, अतः उसका
तद्युगीन स्वरूप अत्यन्त सीमित तथा एकांगी था। प्रस्तुत रचना में उक्त पद्धति

का जो स्वरूप प्रस्तुत हुआ है उसमें तथा इस पूर्व स्वरूप मे परस्पर सम्बन्ध सूत्र जोड सकना जरा टेढी खीर ही है जो असदिग्ध रूप से इस बात को सिद्ध करती है कि 'साहित्य दर्शन' के द्वारा लेखिका ने हिन्दी की तुलनात्मक आलोचना को अपनी अनुपमेय देन के द्वारा एक विशिष्ट भूमि पर खडा कर दिया है, जिसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि लेखिका ने तुलनात्मक समीक्षा की पुरानी शास्त्रीय पद्धति का परित्याग कर उसके स्थान पर व्याख्यात्मक आलोचना की पद्धति को अपनाया है। इस पद्धति से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि हम लेखक के साहित्य मे प्रतिबिम्बित प्रवृत्तियो के द्वारा उनके मानस के अध्ययन मे सक्षम हो सके। यह क्रम मनोविश्लेषणात्मक आलोचना से ठीक उलटा है। दूसरे लेखिका की दृष्टि सदैव ही प्रवृत्तियो के विश्लेषण की ओर रही है। प्रवृत्तियो के सश्लेषण का अभीप्सित सूत्र पिरोने की प्रवृत्ति का परिहार कर उसने अपने प्रयास को और ठोस स्वरूप प्रदान किया है। इस प्रकार 'साहित्य दर्शन' के द्वारा हिन्दी की तुलनात्मक समीक्षा को एक नवीन एव मौलिक दृष्टि प्राप्त हुई है।

'साहित्य-दर्शन' की तुलनात्मक पद्धति में जैसा कि पहले कहा गया है लेखिका ने विश्लेषण-प्रधान व्याख्या की प्रणाली को अपनाया है, परन्तु उसकी इति यही तक नही समझना चाहिए। क्योकि यह ग्रन्थ किसी एक या दो रचनाकारो का तुलनात्मक एवं प्रवृत्ति-निरूपक विवेचन नही, वरन् समस्त विश्व-साहित्य को महान विधायक सृष्टि को एक मनीषि-दृष्टि से देखने का उपक्रम है, जो अपने मूल मे मानवता की उदात्त भावनाओ को लिए हुए है। विश्व-साहित्य का मूल्यांकन करते समय वह मनीषि-दृष्टि विश्व मानव के उस मागलिक स्वरूप का उद्घाटन करती चलती है, जो मनुष्य के हृदय मे देश-काल की सकुचित सीमाओं के थोथे सस्कारो के पार एक स्वस्थ जीवन की भावना भर देते हैं। देश और काल की सीमाओं के पार मनुष्यता का एक महान् सत्य है। इसी महान् सत्य की अखंड चेतना को ही विश्व के महामान्य कलाकारों ने वाणी दी है। मानवता की गतिमयी मांगलिकता का यह वरदान एक दिन ऋचाओ का सगीत बन गया था, कभी बाल्मीकि, व्यास और होमर की वाणी मे फूट पड़ा था और कभी इस दिव्य सदेश को तुलसी ने शब्दो मे बाँधा था। मानव की मगलेच्छा का यह महान् सकल्प प्रत्येक युग और काल की महान् प्रतिभा की वाणी में फूटा है। इसी मंगलेच्छा की श्रेय-प्रेममयी भावना का निरूपण ही लेखिका को अभीष्ट प्रतीत होता है। इसी पुण्य संकल्प के कारण ग्रन्थ के सारे निबन्धो में एक अन्तर्सूत्र व्याप्त है; सारा विश्व साहित्य इसी एक योगसूत्र मे अनुस्यूत प्रतीत होता है।

लेखिका ने बड़ी ही कलात्मकता के साथ व्यापक विश्व-साहित्य पर कुछ रेखाएँ खीची हैं। इन रेखाओं का कौशल यह है कि वे पृथक् रूप से खींची जाने पर भी परस्पर जुड़ी हुई हैं। और, सब मिलकर एक चित्र बनाती हैं, जिसमें श्रद्धा

की दीप्ति है। कहना न होगा कि यह चिर विश्व मानवता का है।

काव्य का प्रारम्भ विश्व की मानवता का महान संदेश देने वाले, काव्य के उपवन के गायक महाकवि वाल्मीकि, वेदव्यास, होमर, वर्जिल और दाँते से होता है। प्रारम्भ में महाकाव्य के भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। रामायण, महाभारत, इलियड, इनियड, और डि विवाइन कामेडी विश्व के इन सर्वाधिक प्राचीन, विराट्, वैविध्यपूर्ण, विश्वज्ञान के कोश तथा समृद्ध महाकाव्यों के वर्ण्य-विषय का परिचय कराते हुए लेखिका ने उनके रचयिताओं की प्रतिभा, चरित्र-चित्रण की शैली तथा कलात्मक धरातल पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"ये महाकाव्य इतने विराट् और वैविध्यपूर्ण हैं कि इनमें लोक-ज्ञान का अनन्त कोष भरा पड़ा है।"

कालिदास को विगत एक शताब्दी से भारतवर्ष का शेक्सपियर कहा जाता रहा है। पश्चिम के मनीषियों ने कालिदास के साहित्य में शेक्सपियर की रचनाओं के समान ही एक अद्भुत कलाकार के विलक्षण शिल्प की छाप देखी थी। परन्तु दोनों कलाकारों के शिल्प का सम्यक् तुलनात्मक अध्ययन विस्तार तक प्रस्तुत नहीं हुआ था। लेखिका ने परम्परित रूप से दुहराये जाने वाले तथा जन-मानस पर संस्कार रूप में अवस्थित इस भाव को पकड़ा और उसे मूर्त रूप दिया। दोनों महाकवियों की तुलना करते हुए लेखिका ने उनके सूक्ष्म निरीक्षण का इस प्रकार विवेचन किया है—"इन दोनों महाकवियों को मनोवैज्ञानिक अवस्था का कितना सूक्ष्म और गहरा अध्ययन था; यह उनकी रचनाओं को पढ़ने से तत्क्षण ज्ञात हो जाता है। मानव स्वभाव के पारखी होने के साथ-ही-साथ वे जीवन की अनेकरूपता के भी सूक्ष्म द्रष्टा थे और असुन्दर में भी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण सौन्दर्य तथा सौकुमार्य की कल्पना करते थे।"

कालिदास और शेक्सपियर दोनों ही महाकवि प्रकृति के उपासक थे। मानव-प्रकृति के ज्ञाता और व्याख्याता होने के साथ उनकी प्रतिभा में प्रकृति और मानव में सामञ्जस्य और साहचर्य की भावना उत्पन्न करने की विलक्षण शक्ति वर्तमान थी। शकुन्तला के वियोग में सारी वन्य प्रकृति दुखी और सतप्त प्रतीत होती है। पुरुरवा को प्रकृति में अपने जीवन की छाया दिखाई देती है। इसी प्रकार शेक्सपियर के नाटकों में भी मानव मन के सुख, दुख, हर्ष, विषाद, प्रेम, घृणा, क्रोध, ईर्ष्या, क्षोभ आदि मनोविकारों का कहीं-कहीं प्राकृतिक उपादानों पर बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रभाव व्यक्त किया गया है।" वृद्ध लीयर के हृदय में उठने वाले तूफान का बाह्य-जगत् के तूफान से अद्भुत सादृश्य है। कालिदास और शेक्सपियर के नाटकों की ऐतिहासिक उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए बतलाया गया है कि
न्होंने—"ऐतिहासिक कथावस्तु को अपेक्षाकृत उत्कृष्ट एवं सग्रहणीय बना

'तुलसी और मिल्टन' की तुलना से प्रस्तुत संग्रह के निबन्धों में एक विशेष प्रकार का तेज तथा शैली में निखार आ जाता है। क्योंकि पहले के दोनों निबन्ध प्रवृत्तियों की तुलना की अपेक्षा परिचयात्मक ही अधिक थे। प्रारम्भ में 'रामचरित मानस' और 'पैराडाइज लास्ट' के विषय-साम्य की संक्षिप्त मीमांसा प्रस्तुत की गई। उसके बाद दोनों ही महाग्रन्थों के अध्यात्म की विवेचना करते हुए तुलसी और मिल्टन के जीव सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किए गये हैं, जो अद्वैत की भावना से प्रभावित हैं। तुलसी के साहित्य में इस भावना से पृथक् तथा भिन्न भाव भी प्राप्त होते हैं जो विशिष्टाद्वैत की कोटि में आते हैं, फिर यह समीक्षक की स्वेच्छा पर निर्भर है जो चाहे ग्रहण करे।

'टैगोर और टालस्टाय' शीर्षक निबन्ध में दोनों रचनाकारों के बचपन, शृंगार-भावना, जीवन के प्रति नैराश्यमूलक दृष्टिकोण तथा भ्रमण-प्रवृत्ति की सम्यक् विवेचना की गई है। दोनों महाकवियों की आत्मा बचपन में कोई बन्धन न चाहती थी। 'अन्ना केरिनिना' के सम्बन्ध में लेखिका ने लिखा है·

"'अन्ना केरिनिना' में नारी जीवन का सूक्ष्म, अनोखा और चकाचौंध कर देने वाला चित्रण है।"

महामानव गाँधी और रोम्याँ रोलाँ दोनों ही आत्मदर्शी, सहिष्णु और कर्मनिष्ठ योगी थे जिन्होंने सत्य के विराट रूप का दर्शन आँखों से नहीं हृदय से किया था।

प्रतीत होता है इन कुछ गिने-चुने शब्दों में ही लेखिका ने दो कर्मयोगियों को साकार खड़ा कर दिया है। केवल-मात्र एक रेखा से बनाए गये चित्र में जिस प्रकार व्यक्ति का व्यक्तित्व बँधकर झाँकने लगता है वैसे ही इन कुछ शब्दों में गाँधी और रोलाँ झाँकते से प्रतीत होते हैं। दोनों ही में पूर्व और पश्चिम के दर्शन तथा जीवन-प्रणाली में सामञ्जस्य स्थापित करने की उत्कट प्रेरणा वर्तमान थी, दोनों में निकट का सम्बन्ध था। लेखिका के अनुसार 'दोनों ही जीवन और सौन्दर्य के अप्रतिम दृष्टा थे।'

'प्रेमचन्द और गोर्की', 'गेटे और प्रसाद', 'निराला और ब्राऊनिंग' 'मैथिलीशरण और रॉबर्ट बर्न्स' आदि निबन्ध संगतिमूलक तुलना के अच्छे उदाहरण हैं। इनमें कहीं परिस्थिति और परम्परा पर जोर दिया गया है और कहीं वैयक्तिक प्रवृत्तियों पर। जहाँ परिस्थिति और परम्परा पर जोर दिया गया है या कहिए कि कलाकार को अपने युग और देश की साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थिति के बीच रखकर देखा गया है वहाँ इस प्रयास में उदात्तता और गम्भीरता का समावेश हो गया है जैसे, 'प्रेमचन्द और गोर्की' शीर्षक निबन्ध में। वैसे तो सभी निबन्धों में यह क्रम न्यूनाधिक रूप में दिखाई पड़ता है, तथापि एक सधी हुई या कहें कि ढली हुई शैली सभी निबन्धों में प्राप्त नहीं होती। इसका

कारण बहुत कुछ विषय का वैविध्य ही है। [illegible] और [illegible] प्रेमचन्द और समाज के लेखक थे उनकी सामाजिक भूमिका का [illegible] के सम्बन्ध में स्पष्ट कर दी किन्तु या लेखक प्रायः व्यक्तिवादी हैं उनके साहित्य की वेदना के साथ जिन पक्षों का मूल्यांकन करने का प्रयत्न नहीं किया गया है, उदाहरणार्थ—[illegible], महादेवी वर्मा, इलियट, क्रिस्टिना रोजेटी आदि।

प्रसाद के 'आँसू' की तुलना कीट्स के 'ओड्स' से की गई है। पन्त की 'पल्लव' की [illegible] तथा [illegible] की [illegible] से तुलना की गई है। उनके 'किरण' और 'मधुवृष्टि' पर लिखते हुए लेखिका ने जो कुछ लिखा है उसके इस अंश की तुलना पीछे इसी प्रकार आती है।

निराला और ब्राउनिंग की तुलना बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। इसमें लेखिका का स्तुत्य प्रयास दृष्टव्य है। उनके जीवन और साहित्य में इनके समान व्यक्तित्व बहुत ही विरल मात्रा में दिखाई देंगे। वस्तुतः निराला और ब्राउनिंग का साहित्य उनके जीवन से पृथक् नहीं वरन् उसी के आस-पास केन्द्रित है। इस तुलना की यह विशेषता है कि वह केवल-मात्र रचनाकारों के कृतित्व में पाई जाने वाली प्रवृत्तियों को आधार बनाकर नहीं चली है वरन् उसने उन प्रेरक शक्तियों को भी उद्घाटित किया है जो इन प्रवृत्तियों के मूल में अन्तर्निहित हैं। जो सदैव इन रचनाकारों की मानस प्रक्रिया को प्रभावित करती रही हैं, साहित्य और जीवन को समानान्तर रखकर देखने से दोनों महाकवियों की सम्पूर्ण विशेषताएँ, उनके जीवन का नाटकीय तत्व तथा मानवोचित व्यक्तित्व एक साथ सम्मुख खड़े हो जाते हैं।

रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू ऑर्नल्ड की तुलना में जहाँ उनकी प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर लेखिका ने बतलाया कि वे दोनों ही व्यक्ति अपने वर्तमान से असन्तुष्ट थे वहीं उनके साहित्य-सिद्धान्तों तथा कृतित्व की तुलना भी समीचीन रूप से की गई है। महादेवी और क्रिस्टिना रोजेटी की तुलना में लेखिका ने बड़ी ही तन्मयता से उनके भाव-जगत् की विशेषताओं को एक-एक कर प्रस्तुत किया है। दोनों के साहित्य का विश्लेषण इन शब्दों में उनकी विशेषताओं को प्रकट करेगा—

"क्रिस्टिना की कृतियों में कुमारीत्व की अमल-धवल पावनता, भोली सरलता और यत्किंचित अल्हड़पन भी है, जिसमें विराग की धूमिल अरुणिमा यत्र-तत्र बिखरी हुई है। महादेवी के काव्य में नारीत्व का क्रन्दन, असफल पत्नीत्व की खीज और द्विविधाग्रस्त अभावजन्य उपराम है, जिसमें नारी-सुलभ समर्पण-भावना और जीवन की गुत्थी न सुलझाने के कारण दुर्भेद्य सघनता व्याप्त हो गई है।"

यशपाल और चेखव की तुलना उनके साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि तथा

सिद्धान्तवादिता को आधार बनाकर की गई है।

अज्ञेय की तुलना अंग्रेजी के रूढ़िवादी कवि आलोचक टी० एस० इलियट से की गई। 'साहित्य दर्शन' में इस तुलना को देखकर एक बार लोग ठहाका मार कर हँसे होंगे। कारण यह कि अज्ञेय की वैचारिक वैयक्तिकता इलियट के सम्मुख संदिग्ध ही है। उन्हें तो इलियट की कार्बन कापी कहना चाहिए। असल और नकल, मूल और छाया की तुलना से तुलना की संगति पीछे ही हटती है। फिर अज्ञेय के प्रयासों को इतना बढ़ा-चढ़ाकर आँकना भी वास्तविकता के विपरीत है, किसी भी व्यक्ति को अनपेक्षित महत्त्व देना है। इस तुलना में एक स्थान पर लेखिका ने लिखा है :

"उन्होंने (अज्ञेय-ले०) त्रिशंकु में आलोचना के खरे प्रतिमानों के सहारे अनेक सामयिक कवियों की विशेषताओं का आनुपातिक विश्लेषण किया है—जिसमें अन्तर्दर्शी एवं स्थितप्रज्ञ बुद्धि की पारदर्शिता निहित है।" इस सम्बन्ध में यह निवेदन है कि हमने जो त्रिशंकु की प्रति देखी है उसमें केवल महादेवी, सियारामशरण गुप्त तथा प्रसाद ही आलोचना के विषय रहे हैं। अनेक सामयिक कवियों की विशेषताओं का आनुपातिक विश्लेषण हमें दिखाई नहीं दिया। अज्ञेय के आलोचना के खरे प्रतिमानों ? पर तो कहा ही क्या जाये (देखिए-'आलोचक अज्ञेय') पर हमें तो इस त्रिशंकु में किसी अन्तर्दर्शी और स्थितप्रज्ञ के दर्शन नहीं हुए वरन् हीनता से प्रताड़ित एक ऐसे आतंकवादी के दर्शन हुए जो अपने नामानुसार अधर में लटक रहा है। पता नहीं शची जी ने त्रिशंकु का कौन-सा संस्करण देखा है? मैथिलीशरण गुप्त और राबर्ट बर्न्स तथा जैनेन्द्र और मेरीडिथ दोनों

विश्व-साहित्य को परस्पर निकट लाकर मूल्यांकन करने का यह प्रयास निश्चय ही अभिनन्दनीय है। हिन्दी साहित्य के लिए यह क्रम दुहरे महत्त्व का है। एक तो समग्र हिन्दी साहित्य को विश्व की अन्य भाषाओं में विकसित और समृद्ध विश्व साहित्य की पृष्ठभूमि में रखकर देखने का प्राथमिक प्रयास लेखिका ने किया है और उसके द्वारा हमारे साहित्य को विश्व-साहित्य से सम्बद्ध करने का सफल उपक्रम किया है, ताकि हम विश्व के समृद्ध साहित्य को निकट से देख सकें और उसकी पृष्ठभूमि में अपना स्थिति का मूल्यांकन कर सकें तथा साहित्य की उन विशेषताओं का अध्ययन कर सकें जिन्होंने किसी भी कलाकार को महान् बनाया है। दूसरे इसमें हिन्दी साहित्य को अन्तर्प्रान्तीय भाषाओं के कृती साहित्यकारों के सम्पर्क में रखकर देखा गया है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद के महत्त्व को देखते हुए यह प्रयास निश्चय ही ऐतिहासिक महत्त्व का होगा। इन दोनों ही दृष्टियों से प्रस्तुत ग्रन्थ का ऐतिहासिक एवं दिशा-निर्देशक महत्त्व असंदिग्ध है। विश्व-साहित्य के अध्ययन के द्वारा हमें विविध देशों और जातियों की संस्कृति को समझने और निकट तक जाने का अवसर मिलता है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान का यह क्रम हिन्दी में अनोखा है। सांस्कृतिक अंतरावलम्बन में भी अन्तर्प्रान्तीय संस्कृतियों के सामीप्य की बहुत आवश्यकता है। वैसे लेखिका ने रवीन्द्र, शरद, गाँधी, बंकिम, मुंशी, आप्टे, राखालदास आदि को ले लिया है तथापि कई महान् नक्षत्र छूट गये हैं। उर्दू के महान् साहित्यकारों का समावेश न होना भी कुछ खटकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अपने विषय का अनूठा तथा रचना-कौशल की दृष्टि से अनुपम है, जिसमें लेखिका का अपार अध्यवसाय तथा स्वाध्याय समाहित है। समग्र विश्व-साहित्य की व्याख्या के इस प्रयास की तुलना करने का कार्य हम लेखिका की तुलनाप्रियता पर छोड़ देते हैं।

आलोचक अज्ञेय

हिन्दी समीक्षा का क्षेत्र आज विशाल से विशालतर होता जा रहा है। उसका वर्तमान रूप आलोचना के विभिन्न दृष्टिकोणों से मिल-जुल कर बना है। इस काल मे सबसे अधिक उभरकर आने वाला दृष्टिकोण मार्क्सवादी आलोचना का है। आज हिन्दी समीक्षा का गुरुत्व के साथ पूर्वाग्रहो से मुक्त होकर यदि विश्लेषण किया जाए तो ज्ञात होगा कि यही दृष्टिकोण साहित्य का वास्तविक मूल्यांकन करते हुए गति निर्देश कर रहा है। यह सही है कि इसके लिए उसके आदर्श पश्चिम के कला समीक्षक रहे हैं। इनमे रेल्फ फॉक्स तथा क्रिस्टोफर काडवेल प्रमुख हैं। पश्चिम के और दूसरे कला समीक्षकों मे, जिनका प्रभाव हिंदी आलोचना पर पड़ा, टी० एस० इलियट प्रमुख हैं। स्वयं अज्ञेय ने इलियटीय समीक्षा का आयात हिन्दी मे सन् १९४५ ई० मे माना है (देखिए 'हंस' दिसम्बर १९४७ ई० पृष्ठ २३९)। स्वयं अज्ञेय के अतिरिक्त डॉ० देवराज भी टी० एस० इलियट के समीक्षा सिद्धान्तों से एक बड़ी सीमा तक प्रभावित हैं।

इलियट अंग्रेजी के प्रमुख कवि तथा आलोचक हैं। अपने ढंग की एक नई काव्य-प्रणाली को जन्म देकर उसकी स्थापना के लिए उन्होंने आलोचना के कुछ नवीन सिद्धांतों को जन्म दिया है। कवि के लिए उन्होंने परम्परा से सम्बन्ध रखने पर बहुत जोर दिया। उनका मत है कि कवि को मात्र युगीन जीवन की अभिव्यक्ति न कर इतिहास और वर्तमान की समग्र चेतना की अभिव्यक्ति का प्रयास करना चाहिए। अपने अतीत की रूढ़ियों, उसकी मृत और जीवित मान्यताओं का ज्ञान कवि को होना आवश्यक है। क्योंकि यह ऐतिहासिक ज्ञान जो कि एक साथ ही बीता हुआ और वर्तमान है, लेखक को ऐतिहासिक लेखक बना देता है।[1] कविता

1. This historical sense, which is a sense of the timeless and the temporal together, is what makes a writer historical.

व्यक्तित्व का अभिव्यंजना नहीं वरन् व्यक्तित्व से पलायन है।[1] कलाकार की सम्पूर्णता का आधार उसके सृष्टा और भोक्ता मन का पृथक्करण है।[1] कलाकार की सृष्टि और उसके व्यक्तित्व में अधिकाधिक अलगाव ही श्रेष्ठ कला को जन्म देता है। कला सृजन की प्रक्रिया में कलाकार का मन एक माध्यम का काम करता है। इस प्रकार इलियट कला के क्षेत्र में अपने निर्वैयक्तीकरण के सिद्धान्त की स्थापना करते हैं और कला में कलाकार के व्यक्तित्व की तटस्थता को श्रेष्ठ कला का जनक मानते हैं। इस तटस्थता को प्राप्त करने का साधन यही है कि कलाकार सामूहिक इतिहास की चेतना के सम्मुख अपने व्यक्तित्व का उत्सर्ग करके समूह की चेतना में स्वयं को डुबो दे। या फिर परम्परा से प्राप्त आदर्शों की भावना में स्वयं की चेतना को पर्यवसित कर दे। कला सृजन की प्रक्रिया की तुलना इलियट ने एक रासायनिक क्रिया से की है। यदि आक्सीजन और सल्फर डायआक्साइड से युक्त किसी कक्ष में प्लेटिनम का तन्तु डाल दिया जावे तो उपरोक्त गैसें सल्फर एसिड के रूप में परिवर्तित हो जायेंगी और प्लेटिनम के तन्तु में कुछ परिवर्तन नहीं होगा। इसी प्रकार (प्लेटिनम के तन्तु की तरह) कलाकार का व्यक्तित्व विभिन्न अनुभूतियों को कला के रूप में परिवर्तित कर देता है और स्वयं तटस्थ रहता है।

अपने इन्हीं सिद्धान्तों को लेकर इलियट ने अंग्रेजी साहित्य में जिस काव्य-धारा का प्रवर्तन किया वह अपने दुरूहता एवं अस्पष्टता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी है। इसका कारण उनके काव्य सम्बन्धी अजीबोगरीब सिद्धान्त हैं, जिनके अनुसार कविता में अर्थ होना आवश्यक वस्तु नहीं है। वह कविता की अभिव्यक्तिगत तीव्रता एवं आवेग को मन्द कर देता है। कविता तो मूर्त संयोजकों (objective co-relatives) का एक समूह मात्र है।

इलियट के काव्य सिद्धान्तों का यह प्रारम्भिक परिचय इसलिए आवश्यक हो गया क्योंकि अज्ञेय के विचार एक बड़ी सीमा तक इन्हीं विचारों पर आश्रित हैं, और हिन्दी में अज्ञेय वही कर रहे हैं जो अंग्रेजी में टी० एस० इलियट।

एक उपन्यासकार के रूप में हिन्दी संसार अज्ञेय से अच्छी तरह से परिचित है। उपन्यासों के अतिरिक्त कविता, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि साहित्य के माध्यम उन्होंने चुने हैं। इलियट की शब्दावली में उन्होंने साहित्य के अनेक अंगों के लिए अपने व्यक्तित्व को माध्यम बनाया है। उन्हीं के शब्दों में कहें तो उन्होंने

---

1. Poetry is not the expression of personality, but an escape from personality.

he more perfect the artist, the more completely separate n him w an who suffers and the mind which reates.

साहित्य के अनेक माध्यमों से अपनी असामाजिक अनुपयोगिता को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा आलोचना के क्षेत्र में जो कार्य हुआ है वह परिमाण में बहुत ही कम है। उसके महत्व का कारण उसकी सैद्धान्तिक नवीनता है। फिर यह नवीनता चाहे अंग्रेजी की उतरन ही क्यों न हो, पर अज्ञेय तो 'माडर्न' की धमकी से हिन्दी पाठक पर आतंक जमा ही लेते हैं।[1]

अधिकांश निबन्ध 'त्रिशंकु' में संग्रहीत हैं। भूमिका में लेखक ने निबन्धों की सैद्धान्तिक नवीनता का दावा किया है और संकेत किया है कि अपने इन्हीं सिद्धान्तों के द्वारा वे हिन्दी आलोचना में मूल्यांकन का प्रयत्न करेंगे। पर यह मूल्यांकन रेडियो से प्रसारित होने वाले पुस्तक परिचय (Review) तक ही सीमित है।

अज्ञेय के निबन्धों पर विचार करने के पहले उनके सांस्कृतिक दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है। अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण में वे अत्यन्त उलझे हुए हैं और यह उलझन ऐसी है जो उन्हें सामन्तवाद के सिवा और कहीं शरण नहीं लेने देती। 'संस्कृति और परिस्थिति' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने सजीव संस्कृति के मरने की बात कही है। यन्त्रों द्वारा उत्पन्न परिस्थिति का चित्रण कर लेखक ने बतलाया है कि यन्त्रों के कारण जीवन और साहित्य घटिया हो रहा है।

जिस संस्कृति के मरने की बात अज्ञेय ने कही है वह मध्ययुग की म्रियमाण सामन्ती संस्कृति है। उस संस्कृति की विशेषता जीवन-क्रिया की व्यवस्था में बतलाई गई है, जिसका कारण मध्ययुग में उत्पादन की वैयक्तिक प्रणाली का अपनी चरम स्थिति में पहुँचना है। पर लेखक ने सामन्तवाद के हीन पहलू को छुपा लिया है। उस संस्कृति के साथ अनिवार्य रूप से बँधे सामन्ती शोषण, बर्बरता, निरंकुशता और तानाशाही को नजरन्दाज किया है।

यह सही है कि आधुनिक विज्ञान ने हमारे सभी संस्कारों को एक साथ झकझोर डाला है। हमारे जीवन में अस्तव्यस्तता एक बड़े परिमाण में है। प्राचीन जीवन-मूल्यों के प्रति होने वाली अनास्था और उठने वाले विश्वास ने जीवन की क्रिया को और भी जटिल तथा गूढ़ बना दिया है। तथापि इस समस्या का समाधान पीछे लौटना कदापि नहीं है, और न लौटा ही जा सकता है। दोष भर गिना देने से मशीन को आज के जीवन से हटाया भी नहीं जा सकता। मशीन को संस्कृति का घातक समझना भी पूर्णतया असंगत है। यदि मशीन को संस्कृति का घातक माना जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि सोवियत में आज संस्कृति जीवित नहीं। किन्तु सोवियत में होने वाले उच्चतर सांस्कृतिक निर्माण को स्वीकार न करना एक हल्की साहसिकता मात्र होगी, सचाई नहीं। इसी प्रकार

१ त्रिशंकु।

मशीन युग ने साहित्य को घटिया बना दिया है कथन भी भ्रामक है। फिलहाल हमारे देश में यन्त्रों का इतना विकास नहीं हुआ है कि देख सकें कि यन्त्रों का साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ता है। पर जहाँ यन्त्रों का काफी विकास हो गया है उन देशों में भी तो साहित्य रचा जा रहा है। रूस, अमेरिका, इगलैण्ड सभी दूर हैं। क्या वहाँ घटिया साहित्य लिखा जा रहा है ? जहाँ के लेखकों की रचनाओं का भावानुवाद करके अज्ञेय हिन्दी में आतंक पैदा कर रहे हैं। मेरा आशय डी० एच० लॉरेन्स और टी० एम० इलियट से है।

साहित्य घटिया हो रहा है इस सम्बन्ध में अज्ञेय का मत है—

'ऊपर कहा गया है कि आधुनिक जीवन दो क्रियाओं में बँट जाता है, श्रम, जो अन्ततः यान्त्रिक और तोष शून्य है, तथा अवकाश जो अन्तत श्रम की अवस्था की क्षतिपूर्ति है, स्थगित जीवन की थकान से भागना या कम-से-कम मनोरंजन है। अत आधुनिक जीवन में संस्कृति के और उसके प्रमुख अंग तथा केन्द्र साहित्य के लिए कोई स्थान है तो दूसरी अवस्था में ही है। आज साहित्य का यही मुख्य उपयोग है और मेरी समझ में यही उसके लिए सबसे बड़ा खतरा है।'[1]

किन्तु प्रश्न उठता है यह खतरा आधुनिक साहित्य के लिए ही क्यों ? वह तो आदिम युग से लेकर आज तक के साहित्य के पीछे लगा हुआ है। आज तक सभी साहित्य का उपयोग अवकाश के समय हुआ है। क्या अज्ञेय द्वारा प्रशंसित केशव का साहित्य इन्द्रजीत सिंह के मनोरंजन और अवकाश के समय उपयोग का साहित्य नहीं है ? पिछले ३०० वर्षों में तुलसी के रामचरितमानस का भी भारत की कोटि-कोटि ग्रामीण जनता रात्रि को अवकाश के समय ही तो उपयोग करती है। कोई साहित्य अवकाश के समय पढ़ा जाने से घटिया नहीं हो जाता। यदि अज्ञेय इस तथ्य में विश्वास रखते हैं तो क्या सम्भव है कि जिस प्राचीन साहित्य को वे श्रेष्ठ कलाकृति समझते हों, उसे यदि अवकाश के समय पढ़ा जाए तो वह घटिया हो जायेगी ? वस्तुत, अवकाश और साहित्य के घटिया-बढ़िया होने का कोई सम्बन्ध नहीं है। बल्कि साहित्य का घटिया-बढ़िया होना इस पर निर्भर है कि वह साहित्य क्या मात्र अवकाश का समय बिताने के लिए, मनोरंजन के लिए लिखा गया है या वह अपने में कुछ शक्ति रखता है जो पाठक को बल, शक्ति और प्रेरणा दे सके। निश्चय ही दोनों ही प्रकार का, यानी मात्र अवकाश का समय बिताने का, मनोरंजन के लिए, श्रम की क्षतिपूर्ति का साहित्य या—प्रेरणादायक शक्ति और स्फूर्ति देने वाला साहित्य, सभी युगों में लिखा गया है। मध्ययुग में केशव, बिहारी, मतिराम और पद्माकर ने जहाँ पहली कोटि का साहित्य लिखा वहाँ कबीर, तुलसी और भूषण ने दूसरी कोटि का।

आधुनिक युग में जहाँ अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और वृन्दावनलाल पहली कोटि का साहित्य लिख रहे हैं, कृष्णचन्द्र, यशपाल और रांगेय राघव दूसरी कोटि का।

साहित्य के घटियापन की मिसाल जो अज्ञेय ने दी वह और भी हास्यास्पद है। उनका मत है कि साहित्य के भीतर से चमत्कार का गुण निकलता जा रहा है। अत. साहित्य घटिया हो रहा है।

जहाँ तक साहित्य और चमत्कार का प्रश्न है वह साहित्य का एक अंग माना जा सकता है—वह भी अतिरिक्त धर्म के रूप में ही। उसके अभाव में साहित्य घटिया हो रहा है यह नहीं माना जा सकता। चमत्कारत्व और काव्यत्व को हमारी साहित्यिक परम्परा में कभी भी पर्याय नहीं माना गया। हाँ, केशव प्रभृति कुछ दरबारी कवियों ने अवश्य ही इस प्रकार की निरी कृत्रिम चमत्कारिता से प्रकृत काव्य की हत्या कर दी थी। सामन्तयुग का साहित्य वस्तुत. आश्रयदाता सामन्तों को चमत्कृत करने का साहित्य है। मेरा आशय उस साहित्य से है जो सामन्त युग के पतन काल में राज्याश्रित कवियों द्वारा लिखा गया। साहित्य में कुछ प्रकृत चमत्कार तो रहता ही है, किन्तु वह उसकी मार्मिकता और अनुभूति की सच्चाई के कारण। अतिरिक्त चमत्कारिता, धोखा देने की प्रवृत्ति के जन्म स्थान सामन्तों के दरबार रहे हैं। वह साहित्य की एक पतनोन्मुख दरबारी विशेषता मात्र है। जिसका विस्तृत रूप हमें समस्या-पूर्ति में मिलता है। प्रायासिक चमत्कारिता को आधार मानकर साहित्य के घटिया या बढ़िया होने का फतवा देना कोई संगति नहीं रखता। साहित्य अपने इस दरबारी गुण को अतिरिक्त, कृत्रिम लादी हुई और प्रायासिक चमत्कारिता को छोड़कर प्रकृत भावभूमि पर आ रहा है। अब जनता का साहित्य बन रहा है और वह जनता को केवल धोखा देना नहीं चाहता है। इसीलिए अज्ञेय जैसे विदग्ध रुचि के पाठक की दृष्टि में वह साहित्य घटिया है। आश्चर्य नहीं अज्ञेय की दृष्टि में भारत का सारा लोक साहित्य जो भारत के जन-मानस की प्रकृत अनुभूति का अप्रायासिक अभिव्यंजन है, घटिया और सस्ता साहित्य हो। यह अपने-अपने संस्कारों और रुचि की बात है। पर यह निश्चित है कि साहित्य अपनी जिस केंचुल को छोड़ चुका है उसे फिर से पहिनाने का प्रयत्न पाँचवाँ सवार बनने की ख्वाहिश मात्र हो सकती है, विदग्ध साहित्यिकता नहीं। अपने सामन्ती संस्कारों के कारण यदि अज्ञेय नवीन प्रकृत अनुभूति के साहित्य से तादात्म्य नहीं कर पाते तो इसके लिए उनके संस्कार दोषी हैं, सारा आधुनिक साहित्य घटिया नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त इसी लेख में लेखक ने और भी अनेक समस्याओं को छुआ है। क्रान्ति के पहले साहित्य के सुधार की इच्छा प्रकट की है। आलोचक राष्ट्र के निर्माण का सुझाव दिया है। उन्हें सामन्तयुग की फरमाइशी कला गर्वीली और मुक्त लगती है और आधुनिक साहित्य-कला बन्दिनी और मजबूरन

कलाकार की अभेदना—

है न। देखिये आदिम युगीन और अधुनिक कलाकार और आधुनिक कलाकार में कोई विशेष भेद नही रहता, दोनो मे ही एक अपर्याप्तता चीत्कार करती है।'[1]

'अन्तत कन्दरावासी कलाकार और आधुनिक कलाकार में कोई विशेष भेद

यह फ्रायडियन मनोविज्ञान जिसे मैं मेटाफिजिक्स का ही नया मुलम्मा कहूँगा मानव-मन को परिस्थितियो के बदल जाने पर भी अपरिवर्तनशील मानता है। पर आज 'मन' की समस्या मनोविज्ञान के क्षेत्र से निकलकर भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे पहुँच गयी है, जहाँ उसके अस्तित्व पर ही शका की जा रही है। अत. आज 'मन' जैसी कोई चीज—यदि वह है भी तो—प्रयोगशाला मे है। और प्राप्त निष्कर्ष इस कथित मनोविज्ञान की मान्यताओ से मेल नही खाते, अत जिस मनो विज्ञान के शाश्वत मन और अपरिवर्तनीय प्रवृत्तियो को आधार मानकर परिभाषा दी गई है आज अवैज्ञानिक हो चुकी हैं। फिर इस परिभाषा वैज्ञानिकता का प्रश्न ही नही उठता।

आदिम युग की जो कल्पना अज्ञेय ने की है वह वर्तमान मानव-शास्त्र प्राप्त निष्कर्षों के विपरीत है। सहज ही प्रश्न उठते हैं कि क्या आदिम मान सामाजिक भावना की स्थापना वैज्ञानिक दृष्टि से सही है? क्या गुहा मान मस्तिष्क अपनी अनुपयोगिता का अनुभव करने मे तथा उपयोगिता प्रमाणित के उपक्रम करने मे सक्षम हो गया था? क्या तद्युगीन मानव मे विवेकी मा मानसिक क्रिया 'सहयोग' की भावना का जन्म हो गया था? निश्चित तथ्य इतिहास के विरुद्ध है।

यदि इस परिभाषा को आज की कला पर लागू किया जाये तो लोगो की सृष्टि है जिनकी सामाजिक उपयोगिता नही है। ऐसे व्यक्ति लगडों, अन्धो, विकलांगो, बीमार, विक्षिप्त और अपाहिज लोगो के औ सकते हैं? जो अपनी असामाजिकता या टलुआपन की क्षतिपूर्ति के लि भी बेनुके (कविता मे मतुके भी) प्रयत्न करते हैं। अज्ञेय की दृष्टि में है।

इस परिभाषा के अनुसार दो तथ्य और स्पष्ट होकर सामने आते यह कि कलासृजन के लिए व्यक्ति की सामाजिक दृष्टि से निकम्मा है और दूसरा यह कि कला सामाजिक उत्पत्ति न होकर कुछ टलुए व्य उत्पन्न भ्रम है। दूसरे शब्दों में समाज के जीवन पर कुछ व्यक्तियों क वस्तु है।

हाँ, यदि अज्ञेय ने यह परिभाषा अपने स्वय के साहित्य को द्वारा सी परिभाषा पूर्ण नही है। वे अपने साहित्य के द्वारा स्व

[1] त्रिशकु पृ० २१

का प्रयत्न ही तो कर रहे हैं।

'रूढ़ि और नैतिकता' शीर्षक निबन्ध टी० एस० इलियट के 'परम्परा और ...तक प्रतिभा' का भावानुवाद है। जिसमे इलियट के ऐतिहासिक चेतना तथा ...यत निर्व्यक्तीकरण इन दो सिद्धान्तो की स्थापना है। अपने इतिहास सम्बन्धी ...कोण को स्पष्ट करते हुए इलियट ने लिखा है—

"The historical sense compels a man to write not merely ...h his own generation in his bones, but with feeling that the ...ole of the literature of Europe from Homer and within it ...whole of the literature of his own country has a simulta...ous existence and composes a simultaneous order This ...torical sense, which is a sense of the timeless and the tem...ral together, is what makes a writer historical "

(Tradition and the Individual Talent)

इतिहास की चेतना का, जो कि अतीत के चिर और अचिर दोनों रूपो से ...क्त है, लेखक को ज्ञान आवश्यक है। इतिहास की यह दुहरी चेतना, उसके इन ...रूपों की कल्पना, अपने मे कोई तार्किक सगति नही रखती। इसी इतिहास की ...ना के आगे व्यक्तित्व के उत्सर्ग का प्रश्न उठता है। समग्र ऐतिहासिक चेतना, ...रे शब्दों मे रूढ़ि के उपयोग करने का आदर्श हिन्दी में बिहारी का रहा है। ...न्होंने नायिका भेद की पारम्परिक और प्रचलित रूढ़ि के सम्मुख अपने व्यक्तित्व ...उत्सर्ग कर उसका लाभ उठाया। या फिर दृष्टिकूट पद हैं, जिनमे रूढ़ि की ...ना का उपयोग तथा कलाकार के व्यक्तित्व का निषेध है। पर प्रश्न है क्या वे ...न् बन सके ? एक कलाकार को अपनी परम्परा का ज्ञान आवश्यक है किन्तु ...का दृष्टिकोण स्पष्ट होना चाहिए। हम वर्तमान और अतीत को कभी एक ...ष्ट से नहीं देख सकते अन्यथा हम इतिहास को उसके सही रूप में समझने मे ...या असफल रहेंगे। इलियट ने इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण पर लिखते हुए ...खा है—

"It is a part of the business of the critic to preserve tradi...on where a good tradition exists. It is part of his business to ...e literature steadily and to see it whole, and this is eminently ...see in not as consecrated by time but beyond time; to see ...e best work of our time and the best work of twenty five ...[illegible]ed years ago with same eyes "

(Introduction to "The Sacred Wood")

पर सबसे पहले प्रेमचन्द कसे गये। 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' का

उदाहरण देकर लेखक ने उनके साहित्य को इसी भावना से युक्त बतलाया
इस प्रकार प्रेमचन्द को 'जीनियस' से कम सिद्ध कर दिया। इसी तरह
बच्चन, महादेवी, प्रसाद और रामशरण चौधरी में भी इसी भावना को मान
गया।

इस विषय में विचारणीय प्रश्न दो हैं। एक तो लेखक ने प्रेमचन्द के
वाद और प्रसाद के पलायनवाद को एक ही भावना के दो रूप मान
सिद्ध कर दिया है, और दूसरे आदर्शवाद को दौहार्द की भावना का प्र
माना है। ये दोनों ही बातें असंगत हैं। क्योंकि इस दृष्टि से विश्व
आदर्शवादी साहित्य दौहार्द की भावना का ही प्रतिफलन प्रतीत होगा
आलोचना की इस कसौटी पर सभी महान् साहित्यकार 'जीनियस' से
होंगे। साथ ही यदि आदर्शवाद आश्रय की खोज के कारण दौहार्द की
सृष्टि है तो भक्ति की भावना भी तो अनन्त आश्रय की खोज ही है।
राम शरण जी के साहित्य में वह खूब मिल जायेगी। फिर वे ही अपन
फिर हिन्दी में 'जीनियस' मात्र बचेंगे तो अज्ञेय।

महादेवी वर्मा द्वारा संकलित उनकी कविताओं का जो संकल
सम्मेलन ने प्रकाशित किया है उस पर लिखते हुए अज्ञेय ने प्रमुख रूप
जी की भूमिका की आलोचना की है। कविताओं के विषय में क
'महादेवी जी की कविता चिर कलामय, सदा रसमय है। यह कलाक
है, व्यक्ति की आलोचना में अवश्य प्रश्न उठ सकता है, कि क्या
पाट में बह सकती है?[1] इस प्रश्न पर विचार किया जा सकता है।
इलियट के जिस निर्व्यक्तीकरण के सिद्धान्त को साहित्यालोचन में
प्रयत्न कर रहे हैं वह काव्य और व्यक्ति के इस पारस्परिक सम्बन्ध
नहीं करता। और ऐसी स्थिति में उठाया गया प्रश्न संगत होते
सिद्धान्तों के प्रतिकूल है।

सन् १९४५ ई० से १९४७ ई० तक के साहित्य का परिचय क
ने हजारी प्रसाद द्विवेदी की कृति 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को पूर्ण
सम्मत बताया है और साथ राहुल जी के ऐतिहासिक उपन्यासों
है। जहाँ तक द्विवेदी जी की कृति का सम्बन्ध है उसकी ऐतिहासि
है। यद्यपि त्रुटियाँ वहाँ भी हैं। जिसके लिए 'प्रतीक' (१० हेमन
नलिन विलोचन शर्मा और भगवतशरण उपाध्याय की आल
सकती हैं, जो अज्ञेय ने ही सम्पादित की हैं। जहाँ तक राहुल ज
का सम्बन्ध है यदि अज्ञेय की दृष्टि में वे जाली हैं या उनकी

---

१ त्रिशंकु की भूमिका।

दग्य है तो इसके लिए उन्हें प्रमाण देना चाहिए था। इसमे तो लेखक का
पान स्पष्ट नजर आता है।

कुछ ऐसी आलोचनाएँ उन्होंने लिखी हैं जिन्हें आलोचना की अपेक्षा पुस्तक-
रिचय कहना अधिक सगत होगा। वे इस प्रकार हैं—दो हिन्दी पुस्तकें (बेढब
वहक और शेष स्मृतियाँ) सा० सन्देश, अप्रैल १९४०। तीन पुस्तकें (एकान्त
गीत, तुलसीदास और जीवन की मुस्कान) सा० सन्देश अगस्त १९४०। तीन
नी पुस्तकें (दो फूल, नहुष और जीवन सन्देश) सा० सन्देश, दिसम्बर १९४०।
कहानी संग्रह (खाली बोतल और शराबी) सा० सन्देश नवम्बर १९४१।

'त्रिशकु की भूमिका मे लेखक ने गर्वोक्ति के साथ लिखा है—'हिन्दी में
आलोचना क्रमश उन्नति कर रही है, पर आलोचना के नाम से निरे 'उच्छवास'
बढ़कर भी हम प्राय व्याख्यात्मक आलोचना तक ही आते हैं, मूल्याकन के प्रयत्न
हमारी आलोचना मे नही के बराबर होते हैं।'

'केशव की कविताई' एक वार्तालाप के ढग पर आलोचना है। जिसमे अज्ञेय
केशव को महान् कवि सिद्ध किया है। बलराज और त्रिपाठी केशव की कविता
र चर्चा कर रहे हैं। बलराज केशव की महानता के कायल नहीं हैं और त्रिपाठी
न्हे वह महानता स्वीकार कराने मे अक्षम प्रतीत हो रहे हैं। इसी बीच आनन्द
ा प्रवेश होता है। कुछ देर बात करने के बाद आनन्द केशव को महान् सिद्ध
करने के लिए इलियट का हवाला देकर 'माडर्न' का आतक उत्पन्न करते हैं और
फिर बलराज आँख मूँदकर केशव को महान् मान लेते हैं और आनन्द वही कर
दिखाते हैं जो करना चाहिए था त्रिपाठी जी को। और अज्ञेय वही कर दिखाते
हैं जो करना चाहिए था लाला भगवानदीन को। पर वे बेचारे इस आतक की
विद्या से दूर थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस लेख मे अज्ञेय ने हिन्दी पाठक को मूर्ख बनाने की
कोशिश की है। 'माडर्न' शब्द की धमकी से ऐसा आतक उत्पन्न करने की कोशिश
की जिससे हिन्दी पाठक बलराज की तरह उनकी स्थापनाओ को आँख मूंदकर
मान लें। इस प्रकार अज्ञेय हिन्दी आलोचना मे आतंकवादी समीक्षा की शुरुआत
करते नजर आते हैं।

अब रहा केशव का अपना प्रश्न। साहित्य के विद्यार्थी इस तथ्य से अपरिचित
नहीं हैं कि केशव के पहले कृपाराम, मोहनलाल मिश्र, करनेस, बलभद्र मिश्र
आदि बहुत कुछ रस-निरूपण कर चुके थे। रहीम का बरवै नायिका भेद लिखा
जा चुका था। अत यह कहना कि केशव ने 'ट्रेडीशन' बनाया पूर्णत: गलत है।
'ट्रेडीशन' उसे कहते हैं जिसका आगे वाली पीढ़ियों ने अनुकरण किया हो। पर
निश्चय ही केशवदास ने जो काव्याग-निरूपण किया उसका हिन्दी में अनुकरण
नहीं हुआ। देखिये आचार्य शुक्ल क्या लिखते हैं—

के सिद्धान्त पर खरी नहीं उतरती। आज तक के साहित्य को इस परिभाषा पर तौलने पर परिभाषा की अपर्याप्तता दृष्टिगोचर होगी। किसी कलाकार के सृष्टा और भोक्ता मन में जितना अन्तर होगा वह उतना ही महान् बन सकेगा। और इसके लिये कविता में व्यक्तित्व की तटस्थता आवश्यक शर्त है। इस कसौटी पर वह सारा काव्य हीन या निम्न कोटि का सिद्ध होगा जो व्यक्तित्व का ही अभिव्यजन है। मेरा आशय सूर, कबीर, रवीन्द्र, मीरा, महादेवी और विनय-पत्रिका के काव्य से है। वस्तुवादी काव्य में भी कवि का व्यक्तित्व परोक्ष रूप से सक्रिय रहता है। आज तक के साहित्य में ऐसा साहित्य प्राय नहीं मिलेगा जिसमें लेखक का आत्माभिव्यजन न हुआ हो। हाँ, समस्या-पूर्त्तियाँ हमारे यहाँ अवश्य ऐसा साधन रही जिसमें व्यक्तित्व का अभिव्यजन न होते हुए भी चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। पर कविता का ध्येय न तो मात्र चमत्कार-सृष्टि है और न अनुभूतियों का सकलन ही। अत. इस सिद्धान्त को आलोचना का एक फैशन भर कहा जा सकता है।

'वागार्थ प्रतिपत्तये' शीर्षक निबन्ध में भावप्रेषण की समस्या का हल एक विशेष ढग से किया गया है।' 'जो व्यक्ति का अनुभूत है उसे समष्टि तक कैसे अपनी पूर्णता में पहुँचाया जाये।'

इस कथन से स्पष्ट ज्ञात होगा कि समस्या मात्र भाव-प्रेषण और परबोध की न होकर व्यक्ति के अनुभव को अपनी पूर्णता में पहुँचाने की है।

यह सही है कि लेखक अपने को ठीक उसी रूप मे प्रेषित नही कर पाता जिस रूप मे कि उसने अनुभव किया है। पाठक और लेखक के अनुभव मे तीव्रता का अन्तर रहता है। इसका कारण यही है कि जहाँ लेखक का अनुभव जीवनानुभूति पर आधारित मौलिक अनुभव है वहीं पाठक का अनुभव काव्यानुभूति पर आधारित एक विशिष्ट प्रकार का अनुभव है, जिसे हम अपराग्न भी कह सकते हैं। लेखक अपने अनुभव को अपनी पूर्णता मे तब तक पाठक तक नही पहुँचा सकता जब तक काव्यानुभूति और जीवनानुभूति मे अन्तर वर्तमान है।

'संक्रान्तिकाल की कुछ समस्याएँ' शीर्षक लेख 'साहित्य किसके लिये', 'राजनीति और साहित्य', 'साहित्य और प्रगति', तथा 'क्या लेखक बिकाऊ है', इन चार भागो मे बँटा हुआ है। लेखक ने साहित्य और राजनीति जैसे गम्भीर विषय पर भी सामाजिक दृष्टि से विचार न कर व्यक्तित्व की अनेकरूपता की दृष्टि से ही विचार किया है। 'साहित्य किसके लिये' प्रश्न पर वे कहते हैं कि जनता को चाहिये कि वह शिक्षित बने। क्योंकि एक मौलिक अक्षमता के कारण प्रबुद्ध वर्ग उसे समझने मे अक्षम है। वह अपना साहित्य आप निर्माण करे। समाज निरपेक्ष व्यक्तिवादी के ये उद्गार आश्चर्य की वस्तु नहीं हैं। पर दु ख तो तब होता है जब इस प्रकार के नकाबपोश इस नकली ईमानदारी को ताक मे रखकर अपना वह

साहित्य जो जनता के लिए नहीं लिखा गया है, जनता के बेटों (विद्यार्थियों) के कोर्स में 'प्रेस्काइब्ड' कराने के लिये षडयंत्र करते फिरते हैं। 'साहित्य और प्रगति' लेख भी पूर्णतया चिन्तन की यान्त्रिकता का सूचक है। लेखक साहित्य को परि-परिस्थितियों का यान्त्रिक प्रतिफलन मानते हैं और साहित्यकार की सजीवता और सक्रियता का उल्लेख नहीं करते।

'उच्छ्वास और व्याख्यात्मक आलोचना की तो बात ही छोड़िये। रेडियो से प्रसारित करने के लिये पुस्तक-परिचय लिखने का जो ढंग अज्ञेय ने अपनाया है (जिसका कि आर्थिक पहलू भी स्पष्ट है) क्या वही मूल्यांकन का प्रयत्न है? इससे इस कथित मूल्यांकन की परिभाषा स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार के पुस्तक-परिचय में आलोचना जैसी कोई चीज नहीं तो फिर विचार-विमर्श की गुंजाइश कहाँ? हाँ, इससे यह साफ जाहिर हो जाता है कि इस पुस्तक की परिचय-नुमा आलोचना (?) का रेडियो से खासा और घनिष्ट सम्बन्ध है।

'संस्कृति और परिस्थिति' शीर्षक लेख में लेखक यशो में प्रचार के कारण होने वाले सांस्कृतिक ह्रास से परेशान थे। पुराने सामाजिक संगठन के अवशेष (संस्कृति के) वहीं दिखाई दे रहे थे जहाँ रेडियो, मोटर-लारी और सिनेमा नहीं पहुँचे हो। किन्तु 'चार नाटक' शीर्षक लेख ने स्पष्ट कर दिया कि यह परिस्थिति अभी अंग्रेजी में है हिन्दी वालों को घबराने की जरूरत नहीं है। इसका कारण यही हो सकता है कि सम्भवतः पहला लेख घर बैठकर किसी पत्र-पत्रिका के लिए लिखा गया होगा जिसमें अंग्रेजी की परिस्थिति को हिन्दी पर लागू कर दिया था और दूसरा लेख रेडियो से प्रसारित करने के लिये। इसलिये दो प्रकार की परस्पर विरोधी बातें आ भी जायें तो क्या हर्ज है। आखिर रेडियो स्टेशन के भीतर बैठकर तो उसे संस्कृति का घातक नहीं कहा जा सकता।

अपने लेखों में वे इतने अधिक अमौलिक और उधार लिये हुए विचारों की अभिव्यक्ति देते हैं कि उनके कथन में जगह-जगह असंगतियाँ भरी पड़ी हैं। 'तार सप्तक' के वक्तव्य में वे सामाजिक रूढ़ि को कायड की तरह अपरिवर्तनीय मानकर व्यक्ति के स्वच्छन्द विकास का अवरोधक मानते हैं वहीं 'रूढ़ि और मौलिकता' में इलियट के भक्त बनकर रूढ़ि के सम्मुख व्यक्तित्व के उत्सर्ग की बात करते हैं।

आलोचना में जहाँ उनका विचार-पक्ष लचर और पोथा है उसी प्रकार भाषा भी लचर, शैली और शब्दों के अमगन, गमन और अवैज्ञानिक प्रयोगों के कारण अप्रामाणिक तथा प्रभविष्णुता से हीन हो गई है। एक 'मौलिक' शब्द ही देखिए। इसका कितना अन्तर्गत प्रयोग अज्ञेय ने किया है। 'तार सप्तक' के सम्पादकीय वक्तव्य में उन्होंने सातों कवियों की मत-भिन्नता का उल्लेख करते हुए कहा कि जीवन के स्वयं-सिद्ध 'मौलिक सत्यों' के सम्बन्ध में भी एक मत नहीं हैं। काव्य का

[illegible] किया। 'तार

सप्तक' मे अपने वक्तव्य मे वे कहते हैं कि 'यह (Communication) कवि-कर्म की ही 'मौलिक समस्या' है।' बेहतर होता यदि लेखक ने कविकर्म की मौलिक और अमौलिक समस्याओ को स्पष्ट किया होता।

'साहित्य किसके लिये' मे भी उन्होंने उसी शब्द को फिर दुहराया है। वे कहते हैं कि—"प्रबुद्ध साहित्य को जनता समझने मे अक्षम है और ऐसा वह किसी दम्भ के कारण नही वरन् अपनी 'मौलिक अक्षमता' के कारण।'

इससे स्पष्ट है कि अज्ञेय शब्दो का कितना अवैज्ञानिक तथा अनर्गल उपयोग करते हैं। इन्ही कारणो से भाषा कई जगह दुरूह हो गई है। उधार लिए हुए विचारो मे सामञ्जस्य न बिठा सकने के कारण प्रतिपादन में शिथिलता स्पष्ट दिखाई देती है।

शैली की दृष्टि से भी देखा जाये तो कुछ नवीनता प्रतीत नही होगी। वार्तालाप के ढंग पर आलोचना की शैली जो अज्ञेय ने 'केशव की कविताई' मे अपनाई है, काफी पहले प्रचलित हो चुकी थी और आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी तथा नगेन्द्र जी इसका प्रयोग अपनी आलोचनाओं मे कर चुके थे।

अज्ञेय के आलोचना साहित्य का अध्ययन स्पष्ट रूप से हमे कुछ तथ्यों के निकट लाता है। अज्ञेय अपने जीवन की भाँति आलोचना में भी आतंकवादी रहे हैं। इसके साथ ही उनके विचार इतने अधिक आत्मनिष्ठ हैं जो उन्हें फासिज्म के निकट पहुँचा देते हैं। उनमे हीनत्व इतना प्रबल है कि वे प्रत्येक कार्य का विरोध करके ही अपने को प्रमाणित कर देना चाहते हैं। और इसीलिए वे 'विद्रोह' की भावना से दूर नही हैं।

किन्तु देश की प्रगतिशील शक्तियो को इस प्रकार के प्रतिक्रियावादी और दकियानूसी विचारकों से घबराने की आवश्यकता नही है। प्रभाकर माचवे के शब्दों मे 'वे अलार्मवाच से अधिक कुछ नही हैं जो कुछ समय तक टिन-टिन करके रह जाती है।'

साहित्य में मजदूर-वर्ग की भूमिका

आधुनिक युग श्रमिकों का युग है। बड़ी तादाद में एक नये श्रमिक-वर्ग का उदय आधुनिक युग में हो रहा है—यह वर्ग अपनी निजी विशेषताओं के कारण वर्तमान समाज के अन्य सभी वर्गों से ही नहीं अपितु मनुष्यता के इतिहास में आये हुए सभी वर्गों से अधिक संगठित तथा शक्तिशाली है। मनुष्यता का भविष्य आज उसके हाथों सुरक्षित है।

वस्तु, यह जानना आवश्यक है कि वर्तमान वर्ग की वे कौन-सी विशेषतायें हैं, वे कौन से भेदक तत्त्व हैं जिनके कारण वह अपने से पिछले युग के श्रमिक वर्ग से अधिक संगठित तथा शक्ति सम्पन्न है? आधुनिक श्रमिक और मध्ययुगीन श्रमिक में सबसे पहला अन्तर तो यह है कि मध्ययुग के श्रमिक का जहाँ अपने श्रम के प्रतिफल पर अपना अधिकार रहता था वहाँ आधुनिक मजदूर और उसके श्रम के प्रतिफल में कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। दूसरे मध्ययुग का श्रमिक अपना श्रम न बेचकर श्रम द्वारा उत्पाद्य वस्तु बेचता था जबकि आधुनिक मजदूर अपना श्रम बेचने के लिए विवश है। उत्पाद्य वस्तु के अतिरिक्त उत्पादन के साधनों पर जहाँ तद्युगीन श्रमिक का अपना अधिकार रहता था। जैसे दस्तकार का अपने करघे पर, आधुनिक श्रमिक का उत्पादन के साधनों पर कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार आधुनिक श्रमिक जिसका न तो उत्पादन के साधनों पर कोई अधिकार है और न उत्पाद्य वस्तु पर, जो अपना श्रम बेचकर श्रम के प्रतिफल से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखता, पूरे अर्थों में सर्वहारा है। आधुनिक श्रमिक के उत्पादन के साधन मशीनें हैं जिन पर उसका कोई अधिकार नहीं है। फलतः मशीन और आधुनिक श्रमिक के बीच कोई रागात्मक सम्बन्ध नहीं रह गया है। मध्ययुग में उत्पादन की क्रिया वैयक्तिक रूप में थी जबकि आधुनिक युग में उत्पादन की क्रिया सामूहिक रूप लेती जा रही है। इसके साथ ही श्रम-विभाजन की क्रिया से मजदूर और उसके श्रम के बीच होने वाले उत्पादन को मजदूर अपने श्रम का प्रतिफल नहीं कह सकता। यह एक ऐसा तत्त्व भी है जिसने आधुनिक श्रमिक को सामूहिक रूप

सगठित होने, तथा सामूहिक जीवन की ओर बढने की प्रेरणा दी है। इन भेदो के अतिरिक्त जो सबसे बड़ा कारण है जिसने कि आधुनिक मजदूर को मध्ययुगीन श्रमिक से काफी आगे लाकर खड़ा कर दिया है, वह है आधुनिक श्रमिक का वर्ग-चेतना से युक्त होना।

इस नये उठते हुए वर्ग का सामाजिक जीवन पर व्यापक असर पडा। उसने अपने अस्तित्व के साथ ही विगत युग की सारी मान्यताएँ नष्ट कर दी। जीवन मूल्यो मे विराट परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ। सामाजिक जीवन मे कायम पुराने सामयिक सम्बन्ध और सामन्ती रिश्ते एक झटके के साथ टूटने लगे और नये वर्ग-सम्बन्धों का निर्माण होना प्रारम्भ हुआ, जिसमें जाति और वश भी श्रेष्ठता समाप्त होने लगी, धर्म की चेतना लुप्त हुई व एकतन्त्र का स्थान प्रजातन्त्र ने ले लिया। वर्तमान प्रजातन्त्र मानव समाज को मजदूर वर्ग की ही देन है। नैतिक मूल्य भी बदले। युगो की बन्दिनी अभिशापित नारी मुक्त हुई, नारी और पुरुष के यौन-सम्बन्धो मे परिवर्तन हुए। परिवार और विवाह की सस्थाओ का पुराना ढाँचा बदला।

पर इसके साथ यह भी सही है कि जहाँ मजदूर वर्ग ने मनुष्यता को सामन्त-वाद से मुक्त कर उसकी रक्षा के लिए उसे प्रजातन्त्र को अमोघ कर दिया, वहीं प्रजातन्त्र की इस महान सस्था पर कुछ श्रमचोरो का अधिकार हो गया। जिन्होंने इस वर्ग की स्थिति और भी कमजोर बना दी। मजदूर वर्ग ने प्रजातन्त्र की छाया में जिन नैतिक और समाजिक मूल्यो को ध्वस्त किया था, उनके स्थान पर नवीन मूल्यो की प्रतिष्ठा यह वर्ग अभी नही कर पाया है। और फलस्वरूप युग-जीवन बिखरे मूल्यो का अस्त-व्यस्त जीवन है।

साहित्य समाज-निरपेक्ष नही होता। वह एक विराट सामाजिक चेतना है, असामाजिक व्यक्ति की आत्म-व्यंजना या अहम् का विस्फोट नही। वह समाज का निज दर्पण नही वरन सामाजिक प्रभाव का एक प्रबल अस्त्र है। समाज मे होने वाले परिवर्तनो का न केवल साहित्य में प्रभाव ही पडता है वरन वह इस प्रभाव के द्वारा समाज मे परिवर्तन भी उपस्थित करता है।

समाज के जीवन मे उदित बालारुण सदृश शक्तिशाली इस नये युग का साहित्य पर प्रभाव न पडता यह कैसे सम्भव था और फलस्वरूप उसके वे मूल्य एक झटके के साथ टूटे और बिखर गये, जो चिरन्तन कहलाते थे, जिन्हें एक वर्ग अपने हितो की रक्षा के शाश्वत मूल्य कहकर उन पर अपरिवर्तनशीलता का बाना पहिनाए हुए था। रिक्त स्थानो पर नए मूल्यो की सृष्टि, स्वस्थ तथा जीवन पोषक तत्वों की प्रतिष्ठा हुई।

यह सही कि आज के साहित्य मे श्रमिकों के जीवन के चित्र अधिक रहते हैं, धीरोदात्त प्रतापवान नायक का स्थान साधारण मजदूर ने ले लिया है। यह तो

उसका एक सशक्त पहलू है ही। किन्तु इस पर विचार करने के पूर्व देखना है यदि हम साहित्य में हुए उस श्रमिक वर्ग के चित्रण को देख लें जो आज के श्रमिक का पूर्वज था। यह इतिहास का वह वर्ग था जो निरन्तर संघर्ष करता रहा, पर उसके खून से लथपथ होकर भी इतिहास जिसके लिए मौन है। जिसके आँसुओं और मुस्कान की इतिहास में, इतिहासकारों ने कोई परवाह नहीं की, जिस पर एक छन्द भी न लिखा जा सका। पर विगत शताब्दियों के बलिदान की शक्ति से आज समाज के जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा हो रही है।

प्राचीन साहित्यकारों ने श्रमिक का चित्रण न किया हो ऐसी बात नहीं है। कालिदास ने मछुआहे का चित्रण किया है, पर कथावस्तु के संघटन के साधक के रूप में। उसके प्रति कालिदास की पृथक एवम् मौलिक सहानुभूति के दर्शन नहीं होते। कबीर का जुलाहा तो जैसे उनके ब्रह्म की तरह अरूप ही है। सूर का ग्वाला भी ग्वाला न रहा क्योंकि उनका दर्शन उसे यथार्थ ग्वाला स्वीकार न कर देवताओं का अवतार मानता था। हाँ, तुलसी ने केवट का चित्रण काफी मानव, यथार्थ तथा वस्तुगत रूप से किया है। केवट की चेतना मध्ययुग के श्रमिक की चेतना है जो अपने उत्पादन के आधार से प्रेम करता है। वह तथा उसका परिवार केवल उसी पर निर्भर है।

'पेरो परिवार सब याहि लागि राजाजू,
हौं दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाई हौं।'

तुलसी ने निषादराज और ब्रह्मर्षि वशिष्ठ को जिस भावभूमि पर खड़ा करके गले लगाया वह मध्ययुग के काव्य का ऐतिहासिक मार्ग चिह्न है।

पर यह उदात्त चेतना आगे विकसित नहीं हुई। रीति-युग में जीवन की अन्य विकासोन्मुख प्रवृत्तियों की तरह ही मध्ययुग की यह अभिनव मानवतावादी चेतना निष्पन्द हो गई। इस निष्पन्द, कुन्द होती हुई चेतना को यन्त्रयुग के प्रवेश उत्पन्न हुए श्रमिक ने झकझोरा और नई गति दी।

यह नई चेतना जैसा कि पहले कहा गया है जाति और धर्म की जीर्ण केंचुल फाड़कर आगे बढ़ी। उनका स्थान देश, राष्ट्र और मानवता ने ग्रहण किया। राष्ट्रीयता के स्वरूप का परिष्कार हुआ और मानवता की भावना पर आधारित राष्ट्रीयता आधुनिक श्रमिक वर्ग के उदय के साथ अपने वैज्ञानिक रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित हुई। आगे चलकर पूँजीवाद के प्रतिनिधियों ने इसके पावन स्वरूप को नष्ट कर उसे आक्रामक राष्ट्रीयता का रूप देकर फासिज्म को जन्म दिया।

साहित्य में एक बड़े परिणाम में राष्ट्रीय साहित्य का उदय हुआ। गुलाम देशों की जनता ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी नफरत को जाहिर करते हुए अपने आन्दोलन को आगे बढ़ाया। राष्ट्रीयता के स्वरूप का आगे चलकर जो पर्यवसान

हुआ वह समाजवाद की भावना से हुआ, वर्गहीन समाज की भावना ने साहित्यकार को नई दृष्टि दी।

इस उभरती हुई चेतना ने सौन्दर्यशास्त्र के सिद्धान्तों में आमूल परिवर्तन की माँग की। सौन्दर्यशास्त्रियों को अपने नियमों को तोड़ना पड़ा। फलत साम्प्रतिक युग के कला-समीक्षक के सौन्दर्यशास्त्र के पुराने सिद्धान्त टूट चुके हैं, पर कोई सार्वभौमिक नवीन सिद्धान्त सामने नहीं आया। इसीलिए वर्तमान सौन्दर्यशास्त्र एक संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। क्योंकि उसके पास कोई स्थिर तथा सार्वभौमिक मूल्य नहीं रह गये हैं, जिनके आधार पर वह कला का मूल्यांकन कर सके।

फिर भी कुछ रेखायें बन रही हैं। ये रेखाएँ अभी बहुत ही महीन तथा बारीक हैं। पर नवनिर्माण की चेतना जाग उठी है यह असंदिग्ध है। ये रेखायें क्या हैं?

सर्वहारा वर्ग ने मानव के न केवल पुराने कला सम्बन्धी दृष्टिकोण को बदला वरन् उसकी कला सम्बन्धी चेतना की गति में भी परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। मध्ययुग के कलाकार में कला के प्रति एक विशिष्ट प्रकार की मनोवृत्ति रहती थी जिसे मार्क्स ने हीन कोटि की कलात्मक अभिरुचि कहा था। उत्पादन की वैयक्तिक क्रिया के विकास की गति सूक्ष्मता की ओर ही उन्मुख होगी, यह स्पष्ट है। उत्पादन के क्षेत्र में इसका उदाहरण ढाके की मलमल है। जिसमें कलाकार (दस्तकार) की कलात्मक अभिरुचि की सूक्ष्मतापरक गति स्पष्ट है। साहित्य के क्षेत्र में रीतिकालीन कवियों द्वारा नायिका के सूक्ष्म से सूक्ष्म हाव-भावों का चित्रण इस युग में हुआ। तभी तो पद्माकर की नायिका कृष्ण को पाँव में (नायिका के) महावर लगाते देख 'अति अनुचित है' कहकर रोक देती है। कला के बहिरंग में देखें तो कहना होगा कि मुक्तक काव्य के जन्म का काल सामन्त युग ही है। मुक्तक काव्य इसी प्रवृत्ति का प्रतिफलन है।

आधुनिक युग में उत्पादन की क्रिया वैयक्तिक न होकर सामूहिक है। अत उसकी गति सूक्ष्मता की ओर न होकर विराटोन्मुख है। उत्पादन की क्रिया वैयक्तिक इसलिए होती थी कि विराट निर्माण व्यक्ति के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है। सामूहिक उत्पादन की क्रिया ने मनुष्य में विराट और भीमकाय निर्माण की चेतना को जाग्रत किया, वह विराट का आराधक बना। मध्ययुग में भी जिन कलाओं के निर्माण में सामूहिक शक्ति का योग रहा उनमें विराटता की प्रतिष्ठा हुई, यह असंदिग्ध है। ताजमहल, कुतुबमीनार, लाल किला, एलोरा, अजन्ता सभी इसके मुखर साक्षी हैं। सम्प्रति युग में विराट की साधना का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण बोल्डर-डेम के महामिसन का बाँध है।

अस्तु आज के साहित्य में मात्र सूक्ष्मता ही आराध्य नहीं, उसके स्थान पर व्यापकता और मानवता की प्रतिष्ठा हो रही है। नवयुग का साहित्यकार विराट जन-जीवन का आराधक है।

आकाशगामी गति के स्थान पर उसके भूमि-सम्पर्क ने उसे वास्तविकता से जोड़ दिया। उपन्यासों के पात्र कल्पित लोक के न होकर हमारे निकट के आस-पास के जीवन के होने लगे। साहित्य में यथार्थवाद का उदय आदर्श की भावना अपदस्थ करके हुआ है। दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) पर द्वन्द्वात्मक भौतिकता-वाद की विजय ने साहित्य में आदर्शवाद के स्थान पर वस्तु-प्रेरित यथार्थवाद की प्रतिष्ठा की।

पर यह यथार्थ स्थिर और जड़ नहीं है। क्योंकि आज का लेखक और कवि जागरूक है, वह जनता के संघर्ष से नहीं है। वह जानता है कि मजदूर संघर्ष कर रहा है, और एक दिन उसकी विजय निश्चित है। यथार्थ की इसी गत्यात्मक चेतना को कवि ने अंकित करते हुए लिखा है—

लड़ रहा मजदूर बाजी हाथ है।
जिन्दगी मरती नहीं विश्वास है॥

—शील

यथार्थ के इसी गत्यात्मक पहलू को समाजवादी यथार्थवाद कहा गया। हर्बर्ट रीड के अनुसार वह वास्तविकता का गत्यात्मक पहलू है, जो अपनी गति में विश्व सर्वहारा की विजय तथा समाजवाद की ओर गतिशील रहती है।

हाँ, यह सही है और बड़े ही दुःख के साथ स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ता है कि कई प्रगतिशील कहे जाने वाले साथियों ने मजदूर वर्ग की चेतना को विकसित कर ऊँचा उठाने की अपेक्षा अपने मन के क्षयी रोमांस में फँसाकर उसे विकृत कर दिया है। इसका कारण उनके भीतर नारी के प्रति एक स्वस्थ एवं जनवादी दृष्टिकोण का अभाव है। नारी के प्रति स्वस्थ और जनवादी दृष्टिकोण के उदय और निर्माण के लिये हमें मजदूर-नैतिकता के मूल्यों को समझना जरूरी है। पर प्रश्न उठता है कि आखिर ये मूल्य क्या हैं? और जैसा कि पहले कहा जा चुका है मजदूर वर्ग ने पुराने नैतिक मूल्यों को तो च्युत कर दिया पर उनके स्थान पर नैतिकता के अभिनव सिद्धान्तों की स्थापना और नूतन मूल्यों की सृष्टि वह नहीं कर सका। कारण प्रजातन्त्र की सत्ता उसके हाथों से निकल चुकी थी और जिन श्रम चोरों के हाथ में वह पहुँच चुकी है वे आज भी इस नवीन सृजन को नहीं चाहते हैं, उसमें असमर्थ तो वे हैं ही—उसकी विशृंखलता में ही उसकी गति है।

पर यह परिस्थिति का एक पहलू है। एक पहलू वह भी है जहाँ साहित्य में सामाजिक प्रेम का उदय हो रहा है।

आखिर इस सामाजिक प्रेम का स्वरूप क्या है? साहित्य में हम मजदूर नैतिकता से प्रभावित सोशल रोमांस की माँग करते हैं। उसका स्वरूप क्या हो? जब तक हम उसके काल्पनिक रूप को ध्यान में रखेंगे हमारे पास सोशल रोमांस

में इस दृढ़ आस्था ने एक अद्भुत आत्मविश्वास, कर्मशक्ति और संघर्ष की भावना उत्पन्न की है। वह शोषण की बुनियाद पर आधारित इस समाज को बदलने के लिये निर्भय होकर संघर्ष कर रहा है—

मैं निर्भय संघर्ष निरत हो।
बदल रहा समाज तुम्हारा॥

साहित्य वैसे तो युग की चेतना से परे कभी रहता ही नहीं, पर युग समस्याओं से उसका जितना लगाव आज के युग में हुआ और हो रहा है, उतना आज से पूर्ववर्ती इतिहास में कहीं नहीं रहा है, ऐसा देखने को नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि आज का साहित्यकार जनता के रोजमर्रा के जीवन से निकट का सम्बन्ध रखता है। इसलिये युग की सामयिकता साहित्य में अपने यथार्थ और प्राञ्जल रूप में प्रतिबिम्बित होती है। आधुनिक साहित्य का एक बड़ा भाग युग का इतिहास बनाने वाली घटनाओं से सम्बन्धित है। सोवियत पर फासिस्त आक्रमण के समय विश्व के सभी भाषाओं के साहित्यकारों की कृतियों में फासिस्त-विरोधी भावना अत्यन्त तीव्र रूप से अभिव्यंजित हुई थी। गाँधीजी की मृत्यु ने विश्व के सभी साहित्यकारों के हृदयों को समान रूप से झकझोरा। सभी देशों के महान् लेखकों ने अपनी श्रद्धा को शब्दों में बाँधा। शान्ति के संघर्ष में आज विश्व के सभी महान साहित्यकार समान रूप से भाग ले रहे हैं। साहित्य का यह घटनापरक रूप आधुनिक साहित्यकार की विकसित चेतना, क्रिया शक्ति तथा युगदर्शन की व्यापक संवेदनशीलता का परिचायक है।

साहित्य के इस घटनापरक रूप का विरोध करते हुए कुछ समीक्षकों का मत है कि इस प्रकार का साहित्य सामयिकता से बँधा होने के कारण क्षण-जीवी और अस्थाई होता है। किन्तु यह कथन अपनी कोई तात्त्विक संगति नहीं रखता। क्योंकि साहित्य के क्षण-जीवी या स्थायी होने का आधार उसकी कथावस्तु का सामयिक या असामयिक होना नहीं है वरन् उसमें पाई जाने वाली संवेदना का स्तर, उसके कलात्मक गुण तथा उसकी सामाजिक चेतना ही उसका नियोजन करती है।

साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध अधिक प्रगाढ़ और दृढ़ हुआ। क्योंकि वर्ग चेतना के वर्गगत स्वरूप से प्रभावित साहित्यकार राजनीति के वर्गगत स्वरूप से प्रभावित न हो यह कैसे सम्भव हो सकता है।

साहित्य समाज के उच्चवर्गीय लोगों की सम्पत्ति नहीं है। एक युग था जब साहित्य में निम्नवर्ग का चित्रण हेय समझा जाता था। महाकाव्य और रूपकों के नायक उच्चकुलोत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापवान नायक ही हुआ करते थे। सारी कथा इसी सामन्त या अभिजात्य के जीवन और उसके विविध रूपों से संगठित होती थी। कलाकृति (महाकाव्य या रूपक) का लक्ष्य इसी नायक की फलसिद्धि

विकृतायें (परिस्थितियाँ) जीवन के क्षेत्र में एक साथ नवीन हैं। कवि जब इन नवीन वास्तविकताओं के सम्पर्क में आता है तो उसका हृदय एक नये प्रकार की संवेदनाओं से भर जाता है। कवि इन्हें अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। पर काव्य का पुराना परिधान अपेक्षाकृत इस नई वास्तविकता को वाणी देने में असमर्थ रहता है। अतः साहित्यकार को एतदर्थ अभिव्यक्ति के नूतन प्रकारों की कल्पना करनी पड़ती है। काव्य परिधान को नवीन वास्तविकताओं की अभिव्यंजना में सक्षम बनाने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। साहित्यकार की यही चेष्टा प्रायोगिक काव्य को जन्म देती है, जिसके पीछे प्रायोगिक वास्तविकता का आग्रह स्पष्ट है। अस्तु, प्रयोगशील काव्य का वास्तविक आधार प्रायोगिक वास्तविकता ही है। अतः प्रयोगशील काव्य को केवल मात्र शैली का ही एक आन्दोलन मानना सच्चाई से इन्कार करना है, उसके पीछे की प्रेरक वास्तविकता से आँखें मूँदना है, जैसा श्री शिवदान सिंह चौहान ने उसे केवल प्रतीकवादी धारा कहकर किया है। हाँ, दुर्भाग्य यह रहा कि इस प्रकार के नवीन साहित्य का सम्बन्ध कुछ ऐसे महारथियों से जुड़ गया जो अपनी प्रतियोगिता के लिए काफी कीर्ति अर्जित कर चुके थे।

काव्य-परिधान में होने वाले प्रयोगों में, अलंकार योजना में, पुराने उपमानों के स्थान पर उन नवीन उपमानों की योजना की गई जो अभिप्रेत भावना को वहन करने में, प्रभविष्णुता उत्पन्न करने में, अधिक सक्षम थे, जिनमें पुराने उपमानों की अपेक्षा चमत्कार सृष्टि की अधिक शक्ति थी। इसका कारण यही है कि पुराने जीवन से लिए गए उपमानों का हमारे वर्तमान जीवन से कोई गूढ़, भीतरी और निकट का सम्बन्ध नहीं रह गया है। वे आज चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रखते। वे प्रभावहीन हो चुके हैं, उनकी प्रतियोगिता नाममात्र की है। इसीलिए आधुनिक कवि सचेष्ट रूप से काव्य के पुराने ढाँचे को बदल रहा है।

प्रश्न उठ सकता है कि उपमानों की नई योजना और मजदूर वर्ग का क्या सम्बन्ध है? इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि उपमानों की नई योजना कवि-गण प्रत्येक युग में करते आए होंगे। अलंकार-शास्त्र का विकास इसका साक्षी है। परन्तु कुछ ऐसे उपमान हैं जो साहित्य के लिए नये ही नहीं वरन् विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों की उद्भूति होने के कारण काव्य-परिधान के विकास के ऐतिहासिक मार्गचिह्न हैं। हिन्दी में गिरजाकुमार माथुर ने इस दृष्टि से बड़े ही सशक्त उपमानों की योजना की है।

आधुनिक कविता में दूसरे जिस क्रान्तिकारी तत्त्व की संयोजना हुई है, वह है उसका लय के आधार पर प्रतिष्ठित होना। 'छन्द' काव्य की लय का ही शास्त्रीय रूप है। पर छन्द के शास्त्रीय रूप से काव्य इसलिए बँधता है, क्योंकि वह लय की स्वाभाविक गति से नहीं चल पाता और फलस्वरूप कुछ निश्चित नियमों को

गाँधकर लय की साधना करता है। काव्य का सही
निभाकर, काव्य को छन्द में है। हिन्दी कविता ने काव्य के इस वास्तविक आधार
और वैज्ञानिक आधार लय ही ना की है और कविता के वैज्ञानिक स्वरूप की
को पहचानकर लय की सा का प्रारम्भ मध्यवर्ग की अराजकतावादी भावना
प्रतिष्ठा की है। मुक्त छन्द जि री साधना की प्रेरणा दे रहा है। कुछ नये छन्दों
थी, आज हिन्दी कवि को लय व की वस्तु है।
का निर्माण भी हुआ है, जो मह की भावना ने जोर पकड़ा। युग-चेतना ने कवियों

इसके साथ सामूहिक गीतों ने को प्रेरित किया। 'कोरस' का सामूहिक गान
को 'जनगीत' और 'कोरस' लि ना का प्रतीक है, जिसमें मनुष्य अपनी व्यक्ति
नवयुग की उस परिवर्तित चे र विशाल समष्टि में अपने को मिला देने के
केन्द्रिकता के आवरण को फा

काव्यगत सत्य और अज्ञेय

हिन्दी कविता के भाग्य को प्रयोगशील या प्रयोगवादी कहलाने का श्रेय अज्ञेय जी को है। किसी भी साहित्यिक धारा को वाद की संज्ञा तभी दी जाती है जब वह किसी सिद्धान्त विशेष के प्रति अपना आग्रह प्रकट करे। अज्ञेय जी प्रयोगवाद को कोई वाद नहीं मानते। किन्तु उसके पीछे उनका सिद्धान्त का आग्रह अवश्य है। वे जिन्हें प्रयोगशील कवि कहते हैं चाहे वे तार सप्तक के हों या दूसरे सप्तक के, उनके संगठित होने का आधार अवश्य ही कोई सिद्धान्त है। पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी की तरह केवल तर्क न्याय से निष्कर्ष न निकालकर भी यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इन कवियों में कोई मूलभूत सैद्धान्तिक एकता विद्यमान है।

अज्ञेय के अनुसार इन कवियों के संगठित होने का मूल आधार काव्य के सत्य का अन्वेषण करना है। ये सभी कवि ऐसे हैं जिनका कि यह मत है कि कविता प्रयोग का विषय है, तथा काव्य का सत्य जिन्होंने अभी नहीं पाया है परन्तु वे उसके अन्वेषी अवश्य हैं—

'संगृहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।"[1]

इस कथन से तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

(१) ये कविगण कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं।

(२) ये दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है।

(३) ये अपने आपको अन्वेषी मानते हैं।

प्रथम स्थापना पर विचार करने पर ज्ञात होगा कि प्रयोगवादी, कविता को प्रयोग का विषय मानता है। दूसरे शब्दों में अधिक स्पष्टता के साथ कहें तो

---

१ 'तार सप्तक' की भूमिका, अज्ञेय

विचार करने पर यह स्पष्ट होने मे कठिनाई नही होगी कि श्री अज्ञेय ने एक अर्से तक बहुत गलत वक्तव्य दिया है। अन्यथा सभी सग्रहीत कवियो के विषय मे ऐसा फतवा नही देते, क्योकि सग्रहीत कवियो ने स्वय के विषय मे जो वक्तव्य दिये हैं उनमे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमे से अधिकाश अपने विचारो मे एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। अज्ञेय चाहे उन्हे एक स्कूल के न मानें परन्तु जीवन, राजनीति, सामाजिक उत्तरदायित्व सभी के सम्बन्ध मे उनके विचारो मे बडा सामजस्य दिखाई देता है। रामविलास, नेमिचन्द्र, गिरिजा कुमार, माचवे, भारतभूषण, मुक्तिबोध आदि प्रथम सप्तक के सभी लोग निश्चय ही एक विशिष्ट जीवन-दर्शन के मानने वाले हैं। पर अज्ञेय जी की तो बात ही और है, और उन्हें आत्माभिव्यक्ति करना है सो करें। मजे की बात तो यह है कि अज्ञेय ने अपने स्वय के (जिन्हे वे जगत के कहते है) स्वय-सिद्ध मौलिक सत्यो मे काननबाला और सहगल के गानो की उत्कृष्टता को जोड़कर सत्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का दरवाजा खोल दिया है। मान लीजिए कि काननबाला और सहगल के गानो की उत्कृष्टता सत्य है। परन्तु इस 'मौलिक' से क्या तात्पर्य है? अच्छा होता यदि अज्ञेय सत्य के 'मौलिक, अथवा 'अमौलिक' स्वरूपो की व्याख्या करते। सच तो यह है कि अज्ञेय के शब्दो के पाठक को शब्दो के जजाल मे उलझाये रखना चाहते हैं। इसीलिये वे शब्दो के ऐसे निरर्थक तथा एकान्तिक प्रयोग करते है। क्योकि यही 'मौलिक' शब्द आगे फिर अज्ञेय द्वारा कवि-कर्म की (मौलिक) समस्या के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है।

अज्ञेय की इस उलझनभरी अभिव्यक्ति, जो कि वास्तव मे उलझन नही है वरन् उसके द्वारा वे अन्य व्यक्ति को उलझन मे डालकर पूंजीपति वर्ग के हितो की रक्षा करना चाहते हैं।

यहाँ प्रयोगशीलता की कसौटी पर भी कुछ विचार करना आवश्यक होगा। अज्ञेय ने लिखा है—

'इसका अभिप्राय यह नही कि···केवल यही कवि प्रयोगशील हैं और बाकी सब घास छीलने वाले। वैसा दावा कदापि नहीं है।'[1]

इस कथन से स्पष्ट है कि अज्ञेय का यह दावा कदापि नही कि वे तार सप्तक, प्रथम या द्वितीय भी कह सकते हैं—मे संग्रहीत कवि भी मात्र प्रयोगशीलता को काव्य मे ला रहे हैं,—या केवल उन्होने काव्य-विन्यास और रचना-विधान मे प्रयोग किया है।

अत' कविता प्रयोग के लिए ही नही हो सकती। यह काव्य के सम्बन्ध म एक भ्रामक दृष्टिकोण है। क्योकि समस्या स्पष्ट है। साधारणत: परिस्थितियो के बदल

---

१. 'तार सप्तक' की भूमिका, अज्ञेय

प्रयोगवादी, कविता को प्रयोग से भिन्न मानता है। कविता जीवन की अभिव्यक्ति है। वह जीवन के लिए है। प्रयोग का अर्थ यदि व्यापक रूप में लिया जाए तो इसका तात्पर्य होगा परीक्षण तथा विश्लेषण व नवीनता। अस्तु, इस प्रकार प्रयोग ध्येय के विचार को एक दिशा ही है। पर जो जो, वह सब कविता में अभिव्यक्त हो सकती है। वह सब कविता के लिए है। किन्तु कविता इनके लिए है, यह एक असत्य है। साथ ही कविता जीवनानुभूति की अभिव्यक्ति है। अस्तु, अभिव्यक्ति अनुभूति के लिए है। कविता का सर्वप्रथम ध्येय है मानवीय-जीवन की वेदना का कलाकार के माध्यम से अभिव्यंजन। अस्तु, यह जीवन का विषय है। जीवन की प्राण-चेतना का स्पन्दन उसमें आवश्यक है। प्रयोगवादी कवि ने इसे उलटकर कविता को प्रयोग का विषय माना है। अतः उसकी प्रथम स्थापना में ही कविता अपने मूल ध्येय से च्युत हो जाती है। कविता के निखार पर उसकी अभिव्यंजना शक्ति को सँवारने के लिए प्रयोग किए जा सकते हैं। अतः 'प्रयोग' कविता का विषय हो सकते हैं, और यही सही मत है और न इससे कोई इन्कार ही कर सकता है। किन्तु 'प्रयोग' में जीवन का जो अंश है वहीं तक कविता सीमित नहीं हो सकती। उसका क्षेत्र समग्र जीवन है। कविता में केवल प्रयोग के अतिरिक्त भी बहुत कुछ रह सकता है।

अज्ञेय के चरम व्यक्तिवाद का विस्फोट देखिए

"किन्तु इससे (सहयोग से) यह परिणाम न निकाला जाए कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि हैं, या कि साहित्य-जगत के किसी एक गुट अथवा दल के सदस्य अथवा समर्थक हैं। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, अभी राही हैं, राही नहीं, राहों के अन्वेषी।"[1]

सैद्धान्तिक दृष्टि से यह घृणित व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसी प्रकार और आगे भी अज्ञेय ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं—

"उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है। जीवन के विषय में, काव्यवस्तु और शैली के, छन्द और तुक के कवि दायित्वों के, प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे समान रूप से स्वीकार नहीं करते, जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगों का समाजीकरण, यान्त्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई, अथवा कानन बाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि।"[2]

---

१ 'तार सप्तक की भूमिका', अज्ञेय

२ वही

विचार करने पर यह स्पष्ट होने मे कठिनाई नही होगी कि श्री अज्ञेय ने एक अर्से तक बहुत गलत वक्तव्य दिया है। अन्यथा सभी सग्रहीत कवियो के विषय मे ऐसा फतवा नही देते, क्योंकि सग्रहीत कवियो ने स्वय के विषय मे जो वक्तव्य दिये हैं उनमे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमे से अधिकाश अपने विचारो मे एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। अज्ञेय चाहे उन्हे एक स्कूल के न मानें परन्तु जीवन, राजनीति, सामाजिक उत्तरदायित्व सभी के सम्बन्ध मे उनके विचारो मे बडा सामजस्य दिखाई देता है। रामविलास, नेमिचन्द्र, गिरिजा कुमार, माचवे, भारतभूषण, मुक्तिबोध आदि प्रथम सप्तक के सभी लोग निश्चय ही एक विशिष्ट जीवन-दर्शन के मानने वाले हैं। पर अज्ञेय जी की तो बात ही और है, और उन्हे आत्माभिव्यक्ति करना है सो करें। मजे की बात तो यह है कि अज्ञेय ने अपने स्वय के (जिन्हें वे जगत के कहते हैं) स्वय-सिद्ध मौलिक सत्यो मे काननबाला और सहगल के गानो की उत्कृष्टता को जोडकर सत्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का दरवाजा खोल दिया है। मान लीजिए कि काननबाला और सहगल के गानो की उत्कृष्टता सत्य है। परन्तु इस 'मौलिक' मे क्या तात्पर्य है? अच्छा होता यदि अज्ञेय सत्य के 'मौलिक, अथवा 'अमौलिक' स्वरूपो की व्याख्या करते। सच तो यह है कि अज्ञेय के शब्दो के पाठक को शब्दो के जजाल मे उलझाये रखना चाहते हैं। इसीलिये वे शब्दो के ऐसे निरर्थक तथा एकान्तिक प्रयोग करते हैं। क्योंकि यही 'मौलिक' शब्द आगे फिर अज्ञेय द्वारा कवि-कर्म की (मौलिक) समस्या के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है।

अज्ञेय की इस उलझनभरी अभिव्यक्ति, जो कि वास्तव मे उलझन नही है वरन् उसके द्वारा वे अन्य व्यक्ति को उलझन मे डालकर पूंजीपति वर्ग के हितो की रक्षा करना चाहते हैं।

यहाँ प्रयोगशीलता की कसौटी पर भी कुछ विचार करना आवश्यक होगा। अज्ञेय ने लिखा है—

'इसका अभिप्राय यह नही कि'''केवल यही कवि प्रयोगशील हैं और बाकी सब घास छीलने वाले। वैसा दावा कदापि नही है।'[1]

इस कथन से स्पष्ट है कि अज्ञेय का यह दावा कदापि नहीं कि वे तार सप्तक, प्रथम या द्वितीय भी कह सकते हैं—मे सग्रहीत कवि भी मात्र प्रयोगशीलता को काव्य मे ला रहे हैं,—या केवल उन्होने काव्य-विन्यास और रचना-विधान मे प्रयोग किया है।

अत कविता प्रयोग के लिए ही नही हो सकती। यह काव्य के सम्बन्ध म एक भ्रामक दृष्टिकोण है। क्योंकि समस्या स्पष्ट है। साधारणत: परिस्थितियों के बदल

---

१. 'तार सप्तक' की भूमिका, अज्ञेय

जाने से काव्य के भावविधान एव रचना-विधान मे नवीनता का तो समावेश होता ही है, यह अनिवार्य भी है और प्रगति का परिचायक भी। अस्तु, जब स्वभावतया ही काव्य मे नवीनता का प्रवेश होता है तो फिर पृथक् रूप से कविता को प्रयोग का विषय मानने से क्या अर्थ निकलता है? स्पष्ट है प्रयोगवादी कवि स्वाभाविकता को दूर रखकर बौद्धिक रूप से 'प्रयोग' के नाम पर चमत्कार लाना चाहता है। साथ ही इसी कारण जैसाकि अभी कहा है, कविता अपने प्रथम ध्येय से गिर गई है।

दूसरी बात यह है कि ये कवि दावा नही करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है। काव्य का सत्य क्या है? इस तथ्य पर बाद मे विचार किया जायेगा परन्तु यह कथन अपने मे एक बडा भ्रम लिए हुए है। यह कथन ठीक सामो और अवधूतो की वाणी के ढग का है जो कहते हैं कि हम दावा तो नही करते कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है किन्तु खोजी जरूर हैं, रमते राम हैं और 'जिन खोजा तिन पाइयाँ।' अज्ञेय कथित काव्यगत सत्य भी ब्रह्म की तरह ही है। इसे स्पष्ट करने की अज्ञेय जी ने कृपा नही की। फिर यह काव्यगत सत्य है क्या? यह भी विचारणीय है। वस्तुत काव्य का सत्य कोई स्थिर वस्तु नही है। उसका सम्बन्ध कविता की व्याख्या से है। और कविता की व्याख्या के अनुसार ही उसके सत्य का स्वरूप निर्धारित होता है। और चूँकि दुनिया की परिवर्तनशीलता कविता की एक व्याख्या रहने नही देती। जगत मे परिवर्तन होते हैं और फलस्वरूप जीवन के सौन्दर्य सम्बन्धी मानो मे भी परिवर्तन होता है। कविता, चित्रकला आदि ललित कलाओ मे भी। और इस प्रकार काव्य की नित्य नूतन व्याख्या होती है और काव्यगत सत्य का स्वरूप भी नित्य ही परिवर्तित होता रहता है। वह एक स्थिर सत्य नही वरन् गतिशील सत्य है। अस्तु, काव्यगत सत्य को पाने के लिए जीवन की गतिशीलता से हमे सम्बन्ध जोडना होगा जहाँ से कि काव्य और उसका सत्य उद्भूत होता है, न कि काव्य को प्रयोग का विषय बनाकर उसके ध्येय से च्युत करने से।

सिद्धान्त की तीसरी मूल बात है कि ये कवि अन्वेषी है। ये दावा नही करते कि काव्य का सत्य उन्होने खोज निकाला है। अत ये उसे खोजने मे सलग्न हैं। इस सिद्धान्त और दूसरे सिद्धान्त का कार्य-कारण सम्बन्ध है। काव्यगत सत्य के आवरण के हट जाने के बाद इनका अन्वेषण कोई तात्त्विक अर्थ नही रखता। जबकि काव्यगत सत्य का कोई स्थिर स्वरूप नही तो फिर अन्वेषण कैसा? और जीवन से पृथक् इस सत्य का अस्तित्व क्या? फिर तो वही मिसाल चरितार्थ हुई कि बिना साँप के ही जमीन पर लाठियाँ पटकी जा रही हैं। स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त एक बहकावा मात्र है। लेखक को सामाजिक उत्तरदायित्व से दूर करने

का सचेतन प्रयत्न। इसीलिए कुछ कवि दुनिया से आँखें मूंदकर, काव्य की सामाजिक उपयोगिता से इन्कार कर, कविता को अपने मन की उलझन की प्रयोगशाला बनाने पर तुले हुए हैं। इसमें इनका पलायनवादी स्वर ही उभरा है जो अब काव्यगत सत्य को ढूंढने का हवाई तथा अस्पष्ट नारा देकर सचेतन रूप से अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से मुंह चुराता है। व्यक्तिवाद की यह चरम परिणति है। जबकि संघर्ष का दौर बढ़ता है, प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ जन-आन्दोलन को रोकने के लिए, बढ़ते हुए वर्ग-संघर्ष को पीछे ढेलने के लिए लेखकों को इसी प्रकार प्रयोगशाला में बिठाकर नपुंसक बनाने पर तुल जाती हैं।

फिर ठीक यही सप्तक क्यों तैयार हुआ इसका उत्तर अज्ञेय देते हैं—

"ठीक यही सप्तक क्यों तैयार हुआ इसका उत्तर यह है कि परिचित और सहकार योजना ने इसे ही सम्भव बनाया। इस नाते तीन-चार और नाम भी सामने आते थे, पर वह प्रयोगशीलता नहीं थी जिसे कसौटी मान लिया गया था।"[1]

किन्तु चार पंक्तियों के बाद स्वयं अज्ञेय अपनी इस बात का विरोध करते दिखाई देते हैं—

"सभी 'सप्तक के कवि' इसके लिए तैयार हैं कि अभी कसौटी हो, क्योंकि सभी अभी उस परम तत्त्व की खोज में लगे हैं जिसे पा लेने पर कसौटी की जरूरत नहीं रहती, बल्कि जो कसौटी की ही कसौटी हो जाती है।"[2]

प्रश्न उठता है कि जब अज्ञेय जी के पास कसौटी का अभाव है तो फिर वह कसौटी कौन-सी थी जिस पर चार पंक्तियों पहले अज्ञेय ने तीन-चार कवियों को खोटा सिद्ध किया?

'उनमें वह प्रयोगशीलता नहीं थी जिसे कसौटी मान लिया गया था।'[3]

इससे यह स्पष्ट है कि यह अज्ञेय जी के उलझन-भरे मन की (जैसाकि उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा है)—उधेड़-बुन है। और इसीलिए उनके कथन में पारस्परिक असंगतियाँ, विरोध तथा उलझन मौजूद है।

इस प्रकार की विरोधी मान्यताओं के प्रतिपादन की एक सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। वस्तुतः भारत के पूंजीपति-वर्ग का यह गलत प्रयोग रहा। प्रयोगवाद पूंजीवाद के पतन-काल की एक साहित्यिक धारा है जिसका विश्लेषण आगे होगा। भारत में, प्रगतिवाद का विरोध करने के लिए भारत के रुग्ण पूंजीवाद को, जो कि साम्राज्यवाद की छाया में मौत से तड़पते टी० बी० के मरीज की तरह भाग्ये बढ़ा है, कोई चारा न दीखा तो उसने पश्चिम के पूंजी-

१. 'तार सप्तक' की भूमिका, अज्ञेय
२. वही
३. वही

प्रयोगवाद : पृष्ठभूमि और परिणति

प्रयोगवाद हिन्दी काव्य की नवीनतम प्रवृत्ति है। अभी तक इसका अपेक्षित विश्लेषण नहीं हो सका है, यह हिन्दी की सबसे बड़ी दुर्बलता है। प्रयोगवाद क्या है? और आज तक के महान् साहित्यिकों के प्रयोग क्या हैं? इसमें अन्तर करने के पहले इस आधुनिक प्रयोगवाद के विकास और उसकी पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है।

सन् १९४३ में 'तारसप्तक' नामक एक काव्य-संग्रह का प्रकाशन श्री अज्ञेय के सम्पादकत्व में हुआ। इस संग्रह में हिन्दी के सात कवियों की रचनाएँ संग्रहीत हुईं। ये कवि हैं सर्वश्री गजानन माधव मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन और स्वयं अज्ञेय। 'प्रयोग' इसके पहले के साहित्य में (याने छायावाद, द्विवेदी-युग अथवा सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास में) कई हुए हैं। किन्तु उन प्रयोगों और इस प्रयोगवाद में तात्त्विक भेद है, जिसका स्पष्टीकरण आगे होगा। यहाँ हमें प्रयोगवाद की उस साहित्यिक और सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार करना है, जिसमें कि नूतन काव्यधारा ने सैद्धान्तिक स्वरूप ग्रहण किया।

सन् १९३६-३७ में छायावाद का पतन हुआ और युगीन चेतना ने प्रगतिवाद का रूप ग्रहण किया। यह एक सबसे बड़ी आश्चर्य की बात है कि छायावाद का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ (जिसमें छायावाद का भावविधान, दर्शन तथा शिल्प अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था) १९३८ में प्रकाशित हुआ। और वह भी इस ऊँचे शिखर पर पहुँचे हुए छायावाद के पतन को रोकने में अक्षम सिद्ध हुआ। इसका कारण युग की वे सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ थीं, जो आलोचकों द्वारा कला के इस ताजमहल को, भूरि-भूरि प्रशंसित होने पर भी जड़-मूल से उखाड़ देने पर तुली थीं। फलतः कामायनी भी अर्द्धसामन्ती दर्शन युग की उठती जनभावना को नहीं रोक सकी और प्रगतिवाद का आन्दोलन जोरों से पकड़ता गया। प्रगतिवाद का सम्बन्ध जनता के संघर्ष से रहा और मानवता

समाज में दो वर्ग स्पष्ट रूप से नजर आने लगे थे—(१) शोषित, जिसमें सर्व-साधारण जनता, मजदूर, किसान और मध्यम वर्ग है और (२)—शोषक, जिसमें पूंजीपति, जागीरदार और जमीदार हैं। साहित्य के क्षेत्र में छायावाद का पतन हो चुका था जो एक अर्से तक पूंजीवाद की क्षयग्रस्तता की अभिव्यंजना कर रहा था। और उसके स्थान पर प्रगतिवाद की प्रतिष्ठा हो चुकी थी जिसने साहित्य में शोषित वर्ग की भूमिका अदा करना प्रारम्भ कर दिया। पर अभिजात्यवर्ग (पूंजीपति आदि) भी इससे कम सचेत नहीं था। पंत और निराला प्रगतिवाद से अपना सम्बन्ध जोड़ चुके थे। प्रगतिवाद के क्षेत्र में विषय वस्तु और शैली-शिल्प के नूतनतर प्रयोग पंत जी द्वारा सम्पादित रूपाभ में होना प्रारम्भ हो गए थे। पूंजीपति वर्ग को साहित्यिक क्षेत्र में छायावाद के इस प्रकार के पतन से अपना अस्तित्त्व समाप्त होते नजर आया। इसलिए एक अर्से तक उनका रुख अस्तित्त्व *रक्षा का रहा और अस्तित्त्व रक्षा के लिए उसने नकारात्मक रुख अपनाया और* वह था प्रगतिवाद का विरोध। प्रगतिवाद की उठती हुई चेतना पर प्रचारात्मकता का आरोप किया गया। उसे रोटीवाद, झंडावाद आदि नाम दिए गए। किन्तु इतिहास की चेतना इन्कार करने से रुकती नहीं है। अस्तु, यह नकारात्मक रुख प्रगतिवाद की चेतना को रोकने में असफल सिद्ध हुआ। फलत उसने एक नूतन पथ का अवलम्बन किया। बुर्जुआ वर्ग यह अच्छी तरह से समझ चुका था कि हिन्दी का जागरूक साहित्यिक शाश्वतवाद को अच्छी तरह समझ चुका है और शाश्वत के सुभावने आवरण के पीछे छिपी हुई अभिजात्य वर्ग की दुर्भावनाएँ उसे साफ नजर आ रही थी। साथ ही आत्माभिव्यक्ति, व्यक्तित्त्व-प्रकाशन की फायड-वादी शब्दावली से भी श्रमिक वर्ग की उठती हुई चेतना को दबाया नहीं जा सकता था। अत. छायावाद के पतन से लेकर प्रयोगवाद के प्रारम्भ तक, याने १९३६ ई० से १९४३ ई० तक के बीच के समय में इस बुर्जुआ विचारधारा ने कई रंग पलटे। इस समय में इसे कुछ दिखाई नहीं दे रहा था कि वह क्या करे। उसने प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद और स्वच्छन्दतावाद का नारा दिया। परन्तु उठती हुई जन-चेतना ने उसे विफल कर दिया। उन्होंने साहित्य को कई नये मोड़ देने चाहे, पर बेकार। अन्त में आकर उन्होंने पश्चिम के पतनोन्मुख पूंजीवाद में उदित प्रयोग-वाद का नारा लगाया, जिसके जन्मदाता अंग्रेजी के कवि तथा आलोचक टी० एस० इलियट हैं। जिन्होंने पूंजीवाद के इस पतनकाल में आई० ए० रिचर्ड्स की सहायता से इगलैण्ड में कविता की एक दुरूह प्रणाली का प्रवर्तन किया और उसी के आधार पर रिचर्ड्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि आगे कविता दुरूह होती जाएगी और बहुत थोड़े लोग उसका लाभ पा सकेंगे। परन्तु हिन्दी के लेखकों ने इस प्रयोगवाद का जो सम्मान किया वह तो विदित ही है। आखिरकार निराशा ही मिली और इस वर्ग ने अन्त में पन्तजी को अस्त्र बनाकर अरविन्दवाद का नारा

सगाया और आज इन दोनों में ही कुंठा काव्यधारा उभर रही है।

डॉ० नगेन्द्र ने प्रयोगवादी कविता पर लिखते हुए कहा है कि वह छाया
की प्रतिक्रिया में अद्भुत नवीन काव्यधारा है। वे लिखते हैं—"शताब्दी के ती
दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावतत्व और रूप आ
दोनों के प्रति एक प्रकार का असन्तोष-सा उत्पन्न हो गया था।…'

'… निसर्गतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई…'

'प्रारम्भ में इस प्रतिक्रिया का समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही
में इन कवियों के दो पृथक वर्ग हो गए।…'

'पहिले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवादी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दि
गया।"[1]

नगेन्द्र जी के इस कथन का अर्थ स्पष्ट है कि वे प्रयोगवाद को छायावाद
प्रतिक्रिया में उत्पन्न प्रगतिवाद का एक साथी आन्दोलन मानते हैं। किन्तु
प्रकार का कथन पूर्णरूप से भ्रमपूर्ण है। उसका कारण यही है कि आज
सिद्धान्ततः प्रयोगवादी काव्य-साहित्य उसी भूमिका को पूर्ण कर रहा है कि
किसी समय छायावाद ने किया था। यह भूमिका है व्यक्तिवाद की, व्यक्ति
परिधि में केंद्रित होकर साहित्य को सामाजिक जीवन से दूर रखने की और अ
व्यक्ति की सनातन समस्या के नाम पर सामाजिक उत्तरदायित्व से बचने की
छायावाद में कवि अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को नहीं समझ सका था अ
इसीलिए वह व्यक्ति की रति की परिधि में केन्द्रित था। पतजी ने इस समय हि
के कवियों को चेतावनी देते हुए उन्हें उनके सामाजिक उत्तरदायित्व का बो
कराया था। छायावाद का कवि अपने व्यक्तिवाद के घेरे को तोड़कर समाज
साथ कदम बढ़ाने के लिये प्रगतिवाद के साथ आगे बढ़ रहा था। किन्तु प्रयोगव
का कवि अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से अपरिचित नहीं है, वरन् वह सचेत रू
से उससे पलायन कर रहा है (पलायन तो छायावादी भी करता था परन्तु अचेत
रूप से) जिसे छायावादी भी नहीं कर सका था।

अज्ञेय कहते हैं—'ये समस्याएँ अनेक हैं…'

इस प्रकार भाववस्तु के सम्बन्ध में प्रयोगवाद छायावाद के व्यक्तिवाद से द
कदम आगे है और अभिव्यक्ति की सनातन समस्या के नाम पर लेखक को प्रयोग
शाला में बिठाने का आग्रह करता है। और यह प्रयोगशाला भी अवचेतन क
… तक ही सीमित है। इसी प्रकार शिल्प के …

१. 'प्रयोगवाद' शीर्षक निबन्ध

प्रयोगवादी कविताओ पर शीशे की पर्त की तरह जमी हुई है। स्वय डॉ० नगेन्द्र ने इसे स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

'उपर्युक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट हो जाती है वह है इन कविताओ की दुरूहता। ये कविताएँ अनिवार्य रूप से ही नहीं, सिद्धान्त रूप से भी दुरूह हैं।'[1]

छायावाद की शैली का दूसरा दोष था, उसकी दुरारूढ प्रतीक-पद्धति। कवि लोग प्रकृति के प्रतीकों द्वारा स्वय की यौन-भावनाओ का चित्रण करते थे। स्वय डॉ० नगेन्द्र ने 'विचार और अनुभूति' मे इसे स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है—

'निदान प्रकृति का प्रयोग यहाँ दो रूपों मे हुआ है। एक कोलाहलमय जीवन से दूर शान्त स्निग्ध विश्राम भूमि के रूप मे और दूसरे प्रतीक रूप मे।···प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ जाने से स्वभावत. उसी के प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रेय हुए।'

प्रकृति के पहले रूप की जिसमें कवि पलायन करता है, प्रयोगवादी को आवश्यकता नही हुई, क्योंकि वह तो सचेतन रूप से अपने सामाजिक उत्तर-दायित्व को 'इतर' समस्या कहकर उससे इन्कार कर चुका है। परन्तु शिल्प के क्षेत्र मे उसने छायावाद की प्रतीक-पद्धति जिसका कि आधार प्रकृति थी, परिवर्तित रूप मे ग्रहण की और प्रयोगवाद की प्रतीक-पद्धति मे प्रकृति का स्थान अवचेतन विज्ञान ने ले लिया है। स्वय नगेन्द्र जी इस सत्य से दूर नही हैं—

'प्रयोगवादी कवि के प्रतीक-विधान में अवचेतन विज्ञान का सचेष्ट उपयोग रहता है।'[2]

इस प्रकार भावविधान तथा शैली-शिल्प दोनो ही के क्षेत्र मे प्रयोगवाद मे छायावाद के दोष और अधिक उभरकर आए हैं। छायावादी, व्यक्तिवादी और पलायनवादी था, किन्तु अचेतन रूप से। उसकी शैली अस्पष्ट एव दुरारूढ प्रतीकों पर आधारित थी, किन्तु उसके पीछे सिद्धान्त का आग्रह नही था। तीसरी वस्तु है, छायावाद का मूल दर्शन, जिसके परिवर्तित रूप का प्रयोगवाद मे विकास हुआ है। वह है शाश्वतवाद। शाश्वतता के साथ ही अगतिशीलता का नियम भी जुड़ा मानते हैं जो सृष्टि मे होने वाले परिवर्तन को परिवर्तन न मानकर उसका आभास मात्र मानते हैं। प्रयोगवादी प्रयोगवादी काव्य के क्षेत्र मे इस सिद्धान्त को दूसरे रूप मे उपस्थित करते हैं। और उसे (शाश्वत को) सनातन की सज्ञा से अभिहित करते हैं। इस सनातनता की माँग को देखिए—

'इसलिए कि वह (प्रयोगवाद) व्यक्ति मन को इकाई मान कर चलने का समाधान उस रहस्यदिग्ध अब भी निकालना चाहता है।'[1]

पाठक को समझने में धोखा हो सकता है (जो जानबूझकर दिया जा रहा है) कि लेखक की यह समस्या प्रारम्भ से आज तक रही है कि जो प्रत्यक्ष अनुभूति है (व्यक्ति का सत्य) उसे दूसरों तक कैसे पहुँचाया जाय। परन्तु यह एक भ्रान्ति मात्र है। कोई इसे न सोचता यदि अज्ञेय या अन्य प्रयोगवादी कवियों का अनुभूत (व्यक्ति का सत्य) जनता तक पहुँचता। उनकी दार्शनिक दुरूहता और दर्शनों दोनों के कारण विद्वान पाठक भी उसे नहीं समझ पा रहे हैं।

अतः उक्त विश्लेषण के आधार पर यह तो स्पष्ट हो ही गया कि प्रयोगवाद जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने कहा है —'छायावाद की प्रतिक्रिया में उद्भूत कोई काव्य धारा है, पूर्णतः भ्रमपूर्ण है।

वरन् यह छायावादी काव्यधारा का विकसित रूप ही दिखाई देता है। छायावाद की सभी बुराइयाँ उसमें पल्लवित हुई हैं। हाँ, छायावाद के सुन्दर शब्द-विन्यास, भावनाओं की मधुर अभिव्यक्ति तथा मूर्तविधायनी कल्पना का अवश्य यहाँ अभाव है।

अज्ञेय के इस प्रयोगवाद का एक सैद्धान्तिक धरातल है जिस पर अज्ञेय ने हिन्दी के कई कवियों को एकत्रित कर इस नये 'वाद' का प्रवर्तन किया। और इसके लिए डॉ० रामविलास शर्मा को कविताएँ देने के लिए विवश किया। आखिर यह सैद्धान्तिक धरातल क्या है ? इस सैद्धान्तिक धरातल की सबसे बड़ी विशेषता वह दृष्टिकोण है जिसका केवल काव्य से सम्बन्ध है। देखने में कितना स्पष्ट लगता है छल-छिद्र विहीन, निष्पाप, शुद्ध साहित्यिक और शायद इसीलिए डॉ० नगेन्द्र ने प्रयोगवादी साहित्य को साहित्य न मानते हुए भी उसके अस्तित्व को साहित्यिक करार दिया है। जरा डॉ० नगेन्द्र ने इन दो परस्पर विरोधी दृष्टि-कोणों को मिलाकर तो देखिए फिर आपको अज्ञेयजी की सफलता का रंग दिखाई देगा—

'दूसरे वर्ग (प्रयोगवादी) ने सामाजिक, राजनैतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा।'

'काव्य की सार्थकता इसी में है कि वह राग को संवेदनीय बनाये, बौद्धिक तत्त्व को संवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं है। शक्ति का साहित्य अथवा ललित साहित्य वस्तु के साहित्य से इसी बात में मूलतः भिन्न है। यह अन्तर जब तक काव्य का अस्तित्व है बना रहेगा। इसका तिरोभाव होने से काव्य के अस्तित्व पर ही आघात होता है। प्रयोगवादी कवि ने नवीनता की झोंक में इसी मर्म पर

१. 'तार सप्तक' का वक्तव्य, अज्ञेय

चोट की है और परिणाम यह हुआ कि उसकी रचना प्राय काव्य नहीं रह गई है। उसमें मन को स्पर्श या चित्त को द्रवित करने की शक्ति नहीं रही।'[1]

जब प्रयोगशील कवि की कविता काव्य ही नहीं रह गई तो फिर उन प्रयोगशील कवियों का व्यक्तित्व ही कैसे साहित्यिक रहा ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। स्पष्ट है कि नगेन्द्र जी भ्रम में हैं। और भ्रम भी इस 'वाद' के प्रवर्तकों द्वारा सचेतन रूप में उत्पन्न किया जा सका अन्यथा काव्य न रहते हुए भी आज के साहित्य में उनका स्थान कैसे रहता।

अब जरा अज्ञेय का वह दृष्टिकोण देखना चाहिए जिसने हिन्दी के विचारशील तथा विद्वान आलोचक को भ्रम में डाल दिया। अज्ञेय जी ने अपने परिचय में स्पष्ट रूप से लिखा है कि उनकी रुचि इस प्रकार के विषयों में अधिक है जिनसे तत्काल कोई सम्बन्ध न हो। इसलिए उन्होंने एक ऐसी समस्या को उठाया *जिसका आज के जीवन तथा काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं था और बैठे उसे ही* लेकर तर्क-वितर्क करने। यह समस्या है भावप्रेषण की। समस्या शुद्ध साहित्यिक उठाई गई ताकि सभी यह समझें कि इन कवियों तथा लेखकों का क्षेत्र साहित्य से बाहर नहीं है। और उसके बाद जो लिखना प्रारम्भ कर दिया गया वह वाद का विषय है। अस्तु, आलोचकों के भ्रम का कारण अज्ञेय जी द्वारा गई समस्या ही है जिसे अज्ञेय जी ने प्रयोगवाद का सैद्धान्तिक आधार बताया है।

अन्त में हम कहना चाहते हैं कि प्रयोगवाद की धारा आज के हिन्दी साहित्य में वही भूमिका अदा कर रही है जो एक समय तक छायावाद ने की थी। उसे प्रगतिवाद की तरह छायावाद की प्रतिक्रिया में उद्भूत काव्यधारा मानना भारी भ्रम है।

---

१. 'प्रयोगवाद' शीर्षक निबन्ध

मुक्त छन्द और हिन्दी कविता

मुक्त छन्द हिन्दी कविता की नवीनतम विशेषता है। प्रारम्भ में इसका बड़ा कड़ा विरोध हुआ और इसको भिन्न-भिन्न नाम दिये गए। केंचुआ छन्द, रबर छन्द, कंगारू छन्द आदि इसके बचपन के नाम हैं। कहते हैं जिस वस्तु को जितना अधिक दबायें वह उतनी ही जोर से ऊपर आती है। ठीक उसी तरह मुक्त छन्द के विकास में जितनी बाधायें उपस्थित हुईं आज उतना ही अधिक उसका विकास हुआ दिखाई देता है। आज हिन्दी के किसी भी पत्र-पत्रिका को उठा लीजिए लगभग एक चौथाई रचनाएँ इस छन्द में मिल जायेंगी। ऐसे कवि कम हैं जिन्होंने मुक्त छन्द में रचना नहीं की। हिन्दी के किसी भी युग में कोई भी छन्द इतना लोकप्रिय नहीं हुआ।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या मुक्त छन्द भी कोई एक छन्द है? अक्सर लोगों को यह कहते सुना जाता है कि मुक्त-छन्द और छन्द-मुक्त हिन्दी कविता में अन्तर होता है। छन्द-मुक्त का अर्थ होना है कि कोई छन्द ही न हो। किन्तु मुक्त-छन्द का तो एक प्रकार का छन्द विधान रहता है। उसके भी नियम होते हैं। किन्तु इसका छन्द विधान क्या है? इसके नियम क्या हैं? इन प्रश्नों का उत्तर या तो मौन से मिलता है या कुछ लोग यों भी कहते हैं कि इसका पूर्ण रहस्य निराला जी ही जानते हैं कि इस प्रकार मुक्त छन्द काव्य की एक प्रवृत्ति विशेष के रूप में न रहकर कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई, बरवै, रोला आदि छन्दों की तरह एक छन्द के रूप में रूढ़ हो गया है। सम्भव है कोई छन्द-शास्त्री इसका लक्षण निर्धारित करे।

कुछ लोगों का कहना है कि मुक्त-छन्द में कोई छन्द तो नहीं रहता पर 'लय' अवश्य रहती है। और कविता के लिए लय की ही आवश्यकता है। किन्तु यह तर्क भी वैसा ही निस्सार है। क्योंकि पहली बात तो यह है कि छन्द का अर्थ ही बन्ध है। फिर मुक्त है तो बन्ध कैसा? और छन्द (बन्ध) है तो मुक्त कैसा? और उधर छन्द को भी 'लय' और 'गीत' के बन्धनों में दुत्कारा नहीं। जहाँ

साधारण छन्दो मे मात्राओ तथा वर्णों के बन्धन हैं वैसे ही यहाँ 'गति' और 'लय' के। वस्तुत विचार किया जाये तो गति और लय के बन्धन एक प्रकार से छन्द के ही बन्धन हैं। चाहे उन्हे शास्त्रीय रूप दिया गया हो या नही। क्योकि छन्द स्वय लय की अनुभूति का शास्त्रीय रूप है और उसके पृथक उसका कोई अस्तित्व नही।

अस्तु मुक्त छन्द के सम्बन्ध मे विचार करने के पूर्व आवश्यकता इस बात की है कि काव्य, लय और छन्द के पारस्परिक सम्बन्ध को ठीक तरह से समझ लिया जाए। काव्य, लय और छन्द के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हमे इस सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी मिलती है। आदि कवि बाल्मीकि का हृदय जब तमसा तट पर व्याध द्वारा नर क्रौंच का वध देखकर क्षुब्ध हो उठा था, तो सहसा भावमयी वाणी उनके मुख से निकल पड़ी थी—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम् शाश्वती समा।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधी काममोहितम्॥"

इस श्लोक के कह चुकने पर महर्षि के मन में कुछ विचार उत्पन्न हुए और उन्होने अपने शिष्य भारद्वाज से कहा—

"देखो यह श्लोक मैंने शोकार्त्त होकर उच्चरित किया है। इसमे समान अक्षरो से युक्त चार चरण हैं। यह वीणा की लय पर भी गाया जा सकता है। अत. यह मुझे यश प्रदान करने वाला हो।"

आदि कवि के इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि इस (अनुष्टुप) जो कि काव्य का प्रथम छन्द है, का लक्षण निर्धारित होने के पूर्व ही वीणा की लय निश्चित हो चुकी थी। वीणा पर गाये जाने के कारण अंग्रेजी कविता के एक बड़े भाग को 'लीरिक' की संज्ञा मिली है।

यदि लय पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि उसका आधार प्रकृति और मानव के संघर्ष मे मानवीय श्रम द्वारा उद्भूत स्वर और ध्वनियो की गति है। उसका स्वरूप जातीय तथा चेतना सामूहिक होती है। उसका सम्बन्ध जीवन की समग्रता से रहता है। जॉर्ज टॉमसन ने लिखा है—

"Rhythm may be defined in its broadest sense as a series of sound arranged in regular sequences of pitch and time Its ultimate origin is no doubt, physiological—perhaps connected with the heart beat. But at that level it is something that man shares with the animals We are not concerned here with the physical germ of rhythm Whatever it may be, but with what man has made of it. I am going to argue that human rhythm originated from the use of tools.

(Marxism and Poetry : Page 14, 15)

ऊपर दिये हुए आदि कवि के तथा जॉर्ज टॉमसन के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि लय का निर्माण छन्द की कल्पना के पूर्व हो चुका था। हम देखते हैं कि छन्दों में भी एक प्रकार की लय पाई जाती है। वस्तुतः यह लय ही छन्दों की आधार भूमि है, जिस पर छन्दों के लक्षण निर्धारित किए जाते हैं। लय के सम्बन्ध में कॉडवेल का विश्लेषण अत्यन्त सारगर्भित एवं विचारोत्तेजक है। वे लिखते हैं—

"The body had certain natural periodicities (Pulse-beat, breath etc) which form a dividing line between the casual character of outside event and ego, and make it appear as if we experience time sudjectively in special and direct manner Any rhythmical movement of action, therefore, etalts the physiological component of our conscious field at the expense of environmently it tends to produce introversion of a special kind, witch I will call emotional introversion and contrast with rational introversion, such ar takes place when we concentrate on a mathematical problem There rhythm would be out of place." —(Illusion & Reality)

लय की यह भाव-परक अन्तर्दृष्टि स्वयं मे एक सामाजिक क्रिया है। दूसरे प्रकार से कहें तो यों कह सकते हैं कि इकाई के से एक स्वरूप का इकाई के व्यष्टि-गत रूप से विरोध होता है जो कि यथार्थ और मानवीय जीवन-धारा मे परिवर्तन उपस्थित करता है।

लय के इस महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए हमें लय का छन्द तथा काव्य से पारस्परिक सम्बन्ध देखना है। यह हम पहले ही कह आये हैं कि है छन्दो की आधार-भूमि ही लय है। और उसी के आधार पर मात्राओं तथा वर्णों का विधान लेकर छन्दों का निर्माण होता है। और इस प्रकार छन्द स्वाभाविकता (लय) का शास्त्रीय रूप है। दूसरे शब्दों में हम इसे जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति का कृत्रिम बंधन भी कह सकते हैं। अब जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है लय उसके लिए आवश्यक है। प्रथम तो मानव की प्रवृत्ति ही लयात्मक है, दूसरे जैसा कि कॉडवेल ने कहा है लय मानव सुलभ भावुकता के प्रकर्ष में सहायक है। साथ ही भाषा की दृष्टि से भी विचार करें तो कह सकते हैं कि भाषा का बोधात्मक पक्ष भी लय सम्भूत है और तभी वह स्मरणीयता का गुण प्राप्त कर सकी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लय एक जीवन्त शक्ति है जिसका भाषा पर आरोप करके छन्द का नियमन किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लय, छन्द और काव्य परस्पर एक सूत्र में अनु-

स्यून हैं। छन्द एक ऐसा कोई वाह्य विधान नहीं जो ऊपर से लाद दिया हो और न उसका आधार अटकलबाजी ही है। वरन् उसका भी एक तात्विक आधार है। खेद है कि द्रोह एवं अनुकरण की धुन मे हमारे कविगण उसे बन्धन मान बैठे हैं। छन्द में भावा के माध्यम से लय का नियमन किया गया है और इस प्रकार उसका दृष्टिकोण जीवन में सरक्षणात्मक है और सरक्षण करना विकास को रोकना तो कदापि नहीं। सामाजिक विकास के साथ ही जीवन की प्रक्रिया मे परिवर्तन होते हैं। नई लय व धुन का जीवन मे प्रवेश होता है। उसके आधार पर नूतन छन्दो का निर्माण किया जा सकता है। ऐसे टेक्नीक को अपनाया जा सकता है जो आज के जीवन की विभीषिका को अभिव्यक्ति कर सके। अस्तु, इस विषय को यहीं समाप्त कर हम मुक्त-छन्द की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करेंगे।

हिन्दी मे मुक्त छन्द का प्रवेश एक क्रान्तिकारी योजना के रूप में हुआ। प्रारम्भ मे इसके प्रयोग प्रसाद जी कर चुके थे। और उनके बाद निरालाजी ने इसे आगे बढाया। आज भी निराला जी ही इसके आचार्य माने जाते हैं। वस्तुत यह हिन्दी वालो की मौलिक प्रतिभा की सूझ नहीं है। वरन् इसके कई वर्ष पूर्व बगला और उसके पूर्व अंग्रेजी मे इसके काफी प्रयोग हो चुके थे।

अंग्रेजी मे इसके पहले-पहल प्रयोग अमेरिकन कवि वाल्ट ह्विटमैन ने किए। उनकी कविताओ का प्रथम सग्रह जब 'घास की पत्तियाँ' के नाम से प्रकाशित हुआ तो साहित्य-संसार मे बडी हलचल पैदा हो गई। कवि का इस सम्बन्ध मे वक्तव्य था कि जिस प्रकार घास की पत्तियाँ समान नहीं होती उसी प्रकार कविता की भी, जो कि प्राकृतिक रचना ही है, पक्तियो के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे समान आकार की ही हों। अंग्रेजी साहित्य में आगे चलकर इसी मुक्त-छन्द को लेकर सवेदनावाद का जन्म हुआ। किन्तु उसकी दूरारूढ अर्थ यात्रा साधारण पाठक की बुद्धि से बाहर की चीज हुई और फलत. यह नया ऊँट गाव छोडकर आगे चल दिया। अंग्रेजी के ससर्ग से बगला कविता में मुक्त छन्द का प्रवर्तन हुआ। और वहाँ से निराला जी ने उसे हिन्दी मे प्रतिष्ठित किया।

मुक्त छन्द का प्रयोग होने के पहिले हिन्दी मे भिन्न-भिन्न तुकान्त कविता का होना तो प्रारम्भ हो गया था और मात्रिक तथा वर्णिक दोनों ही प्रकार के छन्द काव्य रचना में प्रयुक्त किए जाते थे। हिन्दी मुक्त छन्द के उन्नायक निराला जी हैं। इसकी स्थापना करते हुए उन्होंने छन्द क्रिया के प्रमुख तत्वों की ओर अपनी भूमिकाओं मे साहित्यिको का ध्यान आकर्षित किया और उन्हीं तत्वों पर मुक्त-छन्द के लिए भूमि का निर्माण किया। निराला का प्रारम्भ मे पर्याप्त विरोध हुआ। परन्तु बाद मे हिन्दी कवियो ने उसे अपनाना प्रारम्भ कर दिया। अब प्राय विरोध शान्त हो चुका है और आवश्यकता है इस बात की कि मुक्त-छन्द का तात्विक दृष्टि से विश्लेषण किया जाये। आज उसके सम्बन्ध मे फैली हुई

भावनाओं का भी [illegible] आवश्यक है। [illegible] छन्द की मुक्तावस्था को जानना अत्यंत आवश्यक है। इस हेतु निराला जी का वक्तव्य [illegible] निराला जी ने मुक्त छन्द की आवश्यकता [illegible] मानी है -

(१) उनका कहना है कि मुक्त भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए छन्द भी मुक्त होना चाहिए। जिस प्रकार [illegible] के अनुसार [illegible] को [illegible] है, उसी प्रकार छन्द [illegible] कविता की मुक्ति है।

(२) मुक्त-छन्द में [illegible] अधिक रहता है। भाव की [illegible] के लिए यह आवश्यक भी है।

(३) मुक्त-छन्द में भाव और जीवन रहता है, छन्द में नहीं। "[illegible] की [illegible] के लिए [illegible] का मुक्त होना है?" इसी युग ने उन्होंने मुक्त छन्द को शिशु मान रहा है।

अस्तु, निराला जी द्वारा प्रस्तुत किए गए तीन तर्कों पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। निराला जी के कथन, "भावों की मुक्ति छन्द की भी मुक्ति चाहती है" का कोई सबल आधार नहीं। इस कथन का आधार ही अभाव और असमर्थ (मात्र मेटर और टेकनीक) का कल्पित पृथक्करण है। चाहे कोई कितनी ही दलीलें देकर सहानुभूति को दूसरा दीजिए, किन्तु काव्यगत जीवन-सत्य को भुलाया नहीं जा सकता। यद्यपि सौन्दर्य की चेतना का आधार ही एक विराट पर आधारित है, किन्तु फिर अनुभूति के अर्थ वस्तु का वस्तु और शैली में विभाजित कर दोनों को एक ही चेतना की उद्भूति न मानना कदापि समीचीन नहीं। अस्तु, निराला जी के इस कथन की एक साहित्यिक पृष्ठभूमि है और वह यह कि भारतीय साहित्य में छन्द को सदैव आरोपित माना गया है यद्यपि शैली वस्तु पर ऊपर से आधारित नहीं वरन् उसका शरीर है, और शरीर के बिना प्राण का अस्तित्व ही क्या? व्यावहारिक दृष्टि से निराला जी का यह कथन सत्य नहीं दिखाई देता। स्वयं उन्हीं को हम इस कसौटी पर कस सकते हैं। निराला जी की ये पंक्तियाँ देखिए—

> 'भारत के नभ का प्रभा पूर्य।
> शीतलाच्छाय सांस्कृतिक सूर्य।
> अस्तमित हुआ तमस् तूर्य दिग्मंडल।'

अथवा—

> 'वह उस शाखा का वन विहग
> उड़ गया नील नभ निस्तरंग
> छोड़ता रंग भर रंग, रग रग पर जीवन'

यहाँ विचारणीय है कि सारी भावनाएँ छन्द के माध्यम से व्यक्त हुई हैं तो

कर क्या वे भाव पराधीन हैं। यदि हाँ, तो फिर किस प्रकार ? ऐसा कहीं भी प्रतीत नहीं होता, जहाँ भाव प्रकट न हो रहा हो। फिर मुक्ति किसकी ?

दूसरे निराला जी का कथन है कि मुक्त छन्द में प्रवाह अधिक रहता है, किन्तु प्रवाह सदा से लय की दीर्घता पर अथवा गति पर अवलम्बित है। आज सैकड़ों की तादाद में प्रकाशित होने वाली मुक्त छन्द की रचनाएँ स्वयं निराला जी की रचनाएँ क्या प्रवाह-शून्य हैं ?* फिर स्वर की विराटता तथा प्रवाह का उदात्त होना तो छन्द के चुनाव पर अधिक अवलम्बित है। उदाहरण के लिए निम्न छन्द के प्रवाह की तुलना मुक्त छन्द की किसी भी कविता से की जा सकती है।

> पागुर करती छाहों मे, कुछ गम्भीर अधखुली आँखों से
> बैठी गायें करती विचार।
> सूनेपन का मधु गीत, आम की डालों मे
> गाती जाती मिलकर ममाखियाँ लगातार॥

निराला जी की तीसरी दलील और भी मजेदार है और वह है बिना किसी कारण के मुक्त-छद की कविता मे ओज गुण तथा पौरुष की कल्पना करना। इस तर्क की निस्सारता निराला जी की ही नई कविताओ से सिद्ध हो सकती है। 'जूही की कली' में कैसा पौरुष है समझ मे नहीं आता ? और छद-बद्ध कविता किस प्रकार पौरुषहीन कविता है—यह निराला जी ने नहीं बतलाया। क्या मुक्त छद के प्रयोग के पहले का सारा साहित्य पौरुषहीन है।

अस्तु, इस प्रकार विचार करने पर प्रतीत होता है कि निराला जी की मुक्त-छद के पक्ष मे दी हुई दलीलें कोई तात्विक अर्थ नहीं रखतीं। फिर निराला जी मुक्त छद के लिए लय की उपस्थिति अनिवार्य मानते हैं। साथ ही 'जूही की कली' का विश्लेषण करते हुए उन्होने उस कविता की प्रथम पाँच पक्तियो को कवित्त छंद की तरह बतलाया है। इसी प्रकार आगे कहा है कि मुक्त-छद कवित्त छद की बुनियाद पर ही सफल हो सकता है। साथ ही परिमल की भूमिका मे भी उन्होने कहा है कि मुक्त-छद मे प्रवाह कवित्त छद-सा ही जान पडता है। इसी आधार पर डॉ० रामविलास शर्मा भी मुक्त-छद के लिए कवित्त के पद की इकाई अनिवार्य मानते हैं। वे लिखते हैं कि मुक्त-छद होते हुए भी वह एक छद है। उसमे गति और प्रवाह कोई इकाई होनी चाहिए। निराला जी के वर्णित मुक्त-छन्द मे कवित्त का एक चरण अक्सर इकाई का काम करता है। जैसे—'जागो फिर एक बार' मे (हस)। इस उद्धरण से प्रकट होता है कि मुक्त छद के भी दो भेद होते हैं (१) वर्णिक और (२) मात्रिक। और वर्णिक छंद मे कवित्त की इकाई रहती है। जैसे—'जागो फिर एक बार' मे तथा 'जुही की कली' की प्रथम पाँच पक्तियों मे। किन्तु इस मुक्त छद मे कवित्त की इकाई किस प्रकार से है यह न तो

मुक्त छन्द की उद्भावना का इस दृष्टिकोण के आधार पर हमें पता चलता है कि जो लोग मुक्त-छन्द का श्रेय अंग्रेजी को देना चाहते हैं वे इसकी सामाजिक पृष्ठभूमि से प्रायः अपरिचित हैं। मुक्त-छन्द का प्रसार जिस दिशा प्रारम्भ हुआ उस दिशा द्विवेदी युग अपनी चरम सीमा पर था। यदि द्विवेदी युग को केन्द्र पर विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि भारतेन्दु से प्रारम्भ हुए युग का अन्तरंग का यह एक विकसित रूप था। कम्पनी शासन के बाद ही भारतीय जीवन में नव युग का प्रवेश होता है और पश्चात भारत में उत्पादन की आधुनिक विधा का प्रारम्भ हो जाता है। अस्तु, उत्पादन के प्राचीन साधनों सम्बन्धों का टूटना तथा नवीन उत्पादन सम्बन्धों का निर्माण होना भी प्रारम्भ होता है। इस प्रकार से यह मध्ययुग की समाप्ति तथा आधुनिक युग की सन्धि का समय है। इधर पश्चिमी साम्राज्यवाद की छाया में भारतीय पूँजीवाद का भी अस्वाभाविक रूप से विकास होना प्रारम्भ होता है। इस नवोदित पूँजीवाद को एक ओर तो समाज के सामन्ती ढाँचे से संघर्ष करना पड़ता है और दूसरी ओर विदेशी पूँजीवाद की चरम परिणति साम्राज्यवाद उसके विकास को रोकने का प्रयास करता है। इस प्रकार के अन्तः-विरोधों से युक्त नवोदित पूँजीवाद एक तीसरे वर्ग, मध्यम वर्ग को जन्म देता है। यह मध्यम वर्ग मूलतः विद्रोही है। राजनीति की ही भाँति साहित्य का नेतृत्व भी यह वर्ग अपने हाथ में ले लेता है। साहित्य में यह पुरानी रूढ़ियों पर चोट करता है। द्विवेदी युग में इस विद्रोह का स्वर सबसे ऊँचा था। रीतिकाल की सम्पूर्ण प्रक्रिया का विरोध, और उसके साथ ही ब्रज भाषा का भी, इस युग की प्रमुख विशेषता है। मुक्त छन्द में भी यही बुर्जुआई विद्रोह दृष्टिगत होता है और इसी रूप में उक्त विद्रोह की चरम परिणति हुई है। जिस समय अंग्रेजी साहित्य में मुक्त-छन्द का प्रारम्भ हुआ वहाँ भी यही परिस्थितियाँ थीं। कॉडवेल ने स्पष्ट

लिखा है—

"We have already studied in outlines these changes in attitude to wards the metrical technique during the movement of Bourgeois English poetry, and it is obvious that the final movement towards FREE VERSE reflects the final anarchic bourgeois attempt to abandon all social relations in a blind negation of them, because man has completely lost control of his social relationships) (Illusion and Reality)

इस प्रकार सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार करने पर ज्ञात होगा कि मुक्त-छन्द के मूल मे जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह कदापि स्वस्थ एव विकासोन्मुखी नही रही है। और निराला जी के व्यक्तित्त्व के नाते ही कोई उसे प्रगतिशील मान ले तो फिर बात ही दूसरी है। यह एक अराजकतावादी प्रवृत्ति थी—जिसके मूल मे विश्लेषण करने पर केवल रूढ़ि विद्रोह की ही भावना है। प्रगतिशील कहे जाने वाले कवि आज भी इसके शिकार हैं। और श्री शिवमगल सिंह 'सुमन' तो आज भी इसके हामी हैं। (देखिये 'आजकल' (सिनम्बर) मे प्रकाशित प्रयोगवाद पर रेडियो वार्तालाप)।

यह तो हुआ ऐतिहासिक विश्लेषण। पर आज की स्थिति भिन्न है। न तो मुक्त छन्द का विरोध ही किया जा सकता है और न कोई सामान्य स्वरूप ही निश्चित होगा यह आशा की जा सकती है। देखना हमे यह है कि मुक्त छन्द नूतन प्रगतिशील काव्य के किस भाव की अभिव्यजना अधिक अच्छे ढग से कर सकता है, इस प्रश्न पर विचार करने के लिए हमे आज के प्रगतिशील काव्य पर एक दृष्टि डालनी होगी। देखने पर ज्ञात होगा कि आज के प्रगतिशील कवियो मे से अधिकाश मध्यम वर्ग के लोग हैं। इन कवियों के जीवन मे प्राय जन-सम्पर्क का अभाव है। अस्तु, जनभावना को जब ये कवि अभिव्यजित करने जाते हैं तो प्राय जन-सम्पर्क न होने से इनका काव्य केवल बहिर्गत हो जाता है। और प्राय अनुभूति के तीखेपन के अभाव मे उसमे कवि का हृदय कम उतर पाता है। क्योंकि भावना जो उत्पन्न होती है वह अनुभूति युक्त न होने कारण स्वय किसी छन्द का रूप धारण नहीं कर पाती, और ज्यो ही कवि उसे छन्द का बाना पहिनाने बैठता है उसके हृदय का रस तीखी अनुभूति के अभाव मे उड़ता नजर आता है। ऐसे समय मे मेरे दृष्टिकोण से मुक्त-छद मध्यम वर्गीय प्रगतिशील कवियो का अच्छा साथ दे सकता है। इस प्रकार मुक्त छन्द की प्रगतिशील दृष्टि से कुछ उपयोगिता अवश्य प्राप्त की जा सकती है तो यही कि मध्यमवर्गीय कवि भी इसके माध्यम से स्वय को सामूहिक जन-भावना को अभिव्यक्त करने मे सक्षम बना सकते हैं।

आगे हमे हिन्दी मे मुक्त छन्द की सफलता असफलता के तत्त्वो पर विचार

अनिमेष अचितवन काल नयन
निष्पद, शून्य, निर्जन निःस्वन
देखो भू को, पुण्य प्रसू को'

पंत, प्रसाद, निराला के अतिरिक्त हिंदी के प्राय सभी कवियों ने इसका प्रयोग किया है। (महादेवी, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, गुरुभक्त सिंह, ठाकुर गोपालशरण सिंह, आरसी, अनूप, नवीन, भारतीय आत्मा आदि इसके अपवाद हैं।) परंतु सफल प्रयोग बहुत कम ही हुए है। दिनकर, भट्ट, सोहन लाल द्विवेदी, गिरिजा कुमार माथुर, अज्ञेय, माचवे, नगेन्द्र, महेन्द्र भटनागर, नरेश मेहता, हरि व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन आदि कवि प्रमुख हैं, जिन्होंने मुक्त छंद का प्रयोग विशेष रूप से किया है। अधिकांश कवियों ने लय पर कम ध्यान दिया है। फलत गद्यात्मकता का अनुचित समावेश हो गया है। साथ ही जिन्होंने लय का ध्यान रखा भी है, उन्होंने चमत्कार तथा ध्वनि-सौंदर्य उत्पन्न करने के अन्य साधनों का एक साथ परिहार किया है। गिरिजा कुमार माथुर तथा नागार्जुन ही इसमें सफलता प्राप्त कर सके हैं। शकर शैलेन्द्र के प्रयोग अपने ढग के निराले ही हैं, जिनसे हिंदी की अभिव्यंजना शक्ति का समुचित विकास हुआ है। गिरिजा कुमार ने ध्वनि-योजना पर पर्याप्त ध्यान दिया है। दिनकर ने तो मुक्त छद को भी अपने ओज से दीप्त कर दिया है। अज्ञेय जी का मुक्त-छद बेचारा प्रयोगवाद के खण्डहर में ही दब गया और प्रभाकर माचवे में तो गद्यात्मकता सीमा को लाँघ गई है, जो मुक्त छद की पैरोडी मालूम पड़ती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक सीमा तक मुक्त-छद हमारे मध्य-वर्गीय कवियों के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। काफी सुंदर साहित्य इसमें लिखा गया है और उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

वे सारी प्रेम-सम्बन्धी रचनाएँ स्वाभाविक, सहज और निर्मल भावभूमि पर आधारित हैं। कवि कहता है

हम दोनो का प्यार रहे।
जिस दूर्वा पर हम तुम लेटे
कोमल हरित उदार रहे
रजनी की आँखों से जागृत
ईश्वर साक्षीकार रहे
तन में प्रेम विकार लता में
पुलक वासना भार रहे
हम तुम दोनों को मद विह्वल
चुम्बन का अधिकार रहे
हम दोनो को प्यार रहे॥

संग्रह की दो-तिहाई प्रेम-सम्बन्धी रचनाओ के बाद कुछ प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ हैं। प्रकृति के चित्रण का कवि का ढग वैविध्यपूर्ण है। कहीं-कहीं प्रकृति पर स्वयं की मन स्थिति का आरोप किया गया है। कवि तारिका के लिए कहता है—

'नीरव नभ की ओ मनोरम तारिका प्रिय प्राण
वेदना की यह कहानी है मधुर वरदान।'

कवि ने प्रभात का चित्रण यथार्थवादी ढग से किया है—

"यह उदास-सा नीम खड़ा है मन को बिलकुल डाले
डाल-डाल की छाँह बिछी है सोते निर्मम छाले
नहीं झूमता एवरग्रीन ले लाल कुसुम के प्याले
खड़ा हुआ है जैसे-तैसे अपनी साँस सम्भाले

बंगे सो छायावादी कविताओं के अन्तर्गत इस संग्रह की सारी ही कविताएं
आ जाती हैं, पर कवि के प्रेम की मानभूमि छायावाद के प्रेम की तरह अस्वस्थ
तथा अतृप्तिमय नहीं है। अत उन्हें इसमें आत्मकृत ही मानना चाहिए। संग्रह
की तीन रचनाओं --'नभ की ओर निहार रहा था', 'अयि रूपसि अनजान', तथा
'वह कौन कहाँ रहता है ?' में रहस्यवादी का लड़खड़ाता स्वर है।
'अनजान' शीर्षक कविता कवि की यथार्थवादी मनोवृत्ति की ओर संकेत
करती है, जिसमें यथार्थ को छायावादी शैली में व्यंजित करने का प्रयत्न किया
गया है। अत वस्तु-सत्य की व्यंजना प्रभावशाली ढंग से नहीं हो सकी है—
तदापि कुछ स्थल अच्छे बन पड़े हैं—

"दिन का कोल्हू फिर चला खूब
मिलकर मानव चला खूब"

'नींद के बादल' जैसाकि पहले कहा गया है कवि की प्रमुख कृति 'युग की
र' के बाद प्रकाशित हुआ। यह उनकी प्रारम्भिक रचनाओं का संग्रह है, जिसमें
ी देखा कि कवि के काव्य में सभी प्रकार की मनोवृत्तियाँ मौजूद हैं। अपनी
की कविताओं में कवि ने उन मनोवृत्तियों से संघर्ष कर उन्हें पराजित ए
किया है—जो ह्रासोन्मुख हैं—जैसे छायावादी और रहस्यवादी भावनाएं
वस्थ और जनवादी मनोवृत्तियों को अधिक विकसित किया है।
ी प्रकार शैली के भीतर पाये जाने वाले छायावादी प्रभाव को केदारनाथ
की गंगा' में समूल नष्ट कर दिया है। 'नींद के बादल' की कविताओं की
तया छायावादी है। हाँ, कहीं-कहीं देशज शब्दों के प्रयोगों के द्वारा वे
ार्थवादी मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। जैसे—'प्रेम की पूनो अति
ा 'कोई जीव सिधारा जग से।' आदि पर 'नींद के बादल' में यह बहुत
सारी रचनाओं पर प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी की पूरी-
गीतों में तो यह प्रभाव और भी अधिक उभरा है। किन्तु 'युग की
नाओं में कवि ने अपनी जितनी स्वस्थता और भाव तथा शैलीगत
परिचय दिया है, उसे देखकर यह विश्वास करना कठिन हो जाता
ादल' के कवि का ही विकास 'युग की गंगा' की रचनाओं में हुआ।
ैसे इन दोनों संग्रहों की संयोजक (बीच की) कड़ियाँ गायब हैं।
के बादल' तथा 'युग की गंगा' के कवि के व्यक्तित्व दो पृथक
यह प्रतीत नहीं होता कि 'युग की गंगा' के कवि का व्यक्तित्व
कवि का ही विकसित रूप है। 'नींद के बादल' के कवि का
री ईमानदारी के साथ भी बहुत छोटा है—एक नाबालिग,
। 'युग की गंगा' के कवि का व्यक्तित्व अपेक्षाकृत काफी
ीरष निष्ठा व्याप्त है।

'युग की गंगा' हिन्दी कविता के विकास का ऐतिहासिक मार्गचिह्न है। विषय-वस्तु और टेक्नीक दोनों की ही दृष्टि से कवि ने हिन्दी कविता को एक बिलकुल नवीन भूमि पर खड़ा कर दिया है। उसका यह प्रयास अभिनव तो है ही—उसमें भारतीय जीवन की यथार्थ चेतना की जो संयोजना है वह हिन्दी कविता के एक नवीन चरण—उसकी नव गति की परिचायक है।

'युग की गंगा' का कवि जीवन, सौंदर्य और मनुष्यता का कवि है। उसके काव्य की भावभूमि जीवन के यथार्थ से सम्पृक्त है। कवि जीवन के संघर्षशील स्वरूप पर मुग्ध है। वह जिन्दगी की कठोरता में एक महान् सौंदर्य की रूपराशि बिखरी हुई देखता है। वह जीवन के अभिनव, कठोर और संघर्षशील स्वरूप पर मुग्ध इसलिए है, क्योंकि यही जीवन का वह हिस्सा है जिसे सही रूप में जीवन का वह हिस्सा कहा जा सकता है, जो मौत के ऊपर होने वाली विजय का प्रतीक है। 'जो जीवन' कविता में कवि की यही सौंदर्य चेतना अभिव्यक्त हुई है—

कली निगाह में पली,
हिली डुली कपोल में।
हृदय प्रदेश में खिली,
घुली हँसी की तौल में॥
गरम-गरम हवा चली,
अशांत रेत में भरी;
हर एक पाँखुरी जली
कली न जी सकी मरी॥
बबूल आप ही पला,
हवा से वह न डर सका,
कठोर जिंदगी चला,
न जल सका न मर सका।'

कवि के सौंदर्य सम्बन्धी दृष्टिकोण की दूसरी जो बड़ी विशेषता है, वह है उसकी सौंदर्यपरक भावना का व्यापक धरातल पर निर्मित होना। इस सर्वव्यापी भावना की आधार-भूमि कवि की मानवतावादी दृष्टि है। इस दृष्टिकोण ने कवि की सौंदर्य दृष्टि को अधिक पुष्ट, शक्तिवान् और जीवन की वास्तविकता से परिपोषित किया है जिसके कारण कवि की सौंदर्य-दृष्टि कल्पनामूलक आदर्श की न होकर यथार्थोन्मुखी है, वस्तु-जगत से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। बुर्जुआ सौंदर्य शास्त्र की शब्दावली में जिसे असुन्दरता और कुरूपता कहा जाता रहा है, क्योंकि आदर्शवादी सौंदर्य-दृष्टि सदैव ही वस्तु-जगत को कुरूप, गँदला, असुंदर कहकर काल्पनिक जगत की दृष्टि करती रही है—क्योंकि उनका जीवन से लगाव नहीं था। वे जीवन को बदलना नहीं चाहते थे। उनकी सौंदर्य-परक दृष्टि दर्शन के

तरह भरपेट लोगों की दिमागी ऐय्याशी मात्र रही। केदारनाथ ने अपनी व्यापक और सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि से जीवन को देखा है और उसे बड़ी ही कलात्मकता के साथ शब्दों में बाँध दिया है। कत्था, चूना, लौंग, सुपारी और तम्बाकू खाकर पीक उगलने वाले और गुड़गुड़-गुड़गुड़ हुक्का पीकर धुआँ उड़ाने वाले, बिना तेल-कंघी के सूखे बाल उलझाये हुए, फटे, मैले और बदबूदार कपड़े पहने, जूठी बीड़ियों के टुकड़े पीते हुए शहर के लड़के सभी उनके काव्य में साकार हो गये हैं। कवि की इसी व्यापक दृष्टि के कारण उसकी कविताओं का 'कन्टेन्ट' काफी व्यापक हो गया है। प्रगतिवादी कविता की विषय-वस्तु पर संकुचितता का आरोप करने वालों के लिए 'युग की गंगा' एक चुनौती है। यह विषय-वस्तु प्रकृति के मोहक दृश्यों की दृष्टि करने वाली बासन्ती हवा, गेहूँ आदि प्रकृति सम्बन्धी कविताओं से लेकर, आर्डिनेंस, जनमत आदि राजनैतिक रचनाओं, अमीनाबाद, मूलगंज और कानपुर के शहरी चित्रण से लेकर चैंतू मछुवाहे और बुन्देलखण्ड के आदमियों के जातीय चित्रण, देवमूर्ति, चित्रकूट के यात्री, देवताओं की आत्महत्या आदि की धर्म (अफीम), विरोधी भावनाओं से लेकर धरती करोड़ों का गाना आदि रचनाओं की समाजवादी चेतनाओं तक की व्यापक भावभूमि को लेकर अपने में समाहित करके चल रही है। 'युग की गंगा' अपने युग की, अपनी जाति की चेतना की सही प्रतिच्छवि है।

केदारनाथ यथार्थवादी कवि हैं। सामाजिक जीवन के विविध अन्तर्विरोधों के पार सत्य के वास्तविक रूप तक उनकी दृष्टि जाती है। उनकी कविताओं का व्यापक 'कैनवास' उनके युग-दर्शन का परिचय है।

'युग की गंगा' की कविताएँ मोटे तौर पर तीन भागों में विभाजित की जा सकती हैं :

(१) प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ
(२) यथार्थवादी रचनाएँ
(३) जनगीत

प्रकृति सम्बन्धी रचनाओं के अन्तर्गत इस संग्रह की प्रमुख रचनाएँ आ जाती हैं जिनमें 'गेहूँ', 'चन्द्रग्रहण से लौटती बेरी', 'बासन्ती हवा', 'सावन का दृश्य' आदि प्रमुख हैं। कवि ने प्रकृति का चित्रण करते हुए उसमें से जीवन के शौर्य, शक्ति और बलिदान की व्यंजना की है। गेहूँ का चित्रण करते हुए कवि लिखता है—

'आर-पार चौड़े खेतों में
चारों ओर दिशाएँ घेरे
लाखों की अगणित संख्या में

ताकत से मुट्ठी बाँधे है
नोकीले भाले ताने है,
हिम्मत वाली लाल फौज-सा
मर मिटने को झूम रहा है।
अंतिम बलिदानों से अपने,
सबल किसानो को करता है।'

'युग की गंगा' मे प्रकृति के किसानी स्वरूप का चित्रण किया गया है। प्रकृति । कवि ने जो मानवीयकरण किया है, उसे अपनी भावनाओ के आरोप के द्वारा ही दूषित नही किया है। वरन् प्रकृति मे जातीय भावना और संस्कारों को मूर्त प दिया है। प्रकृति मे भारतीय किसान के ये साकार रूप लेते हुए सस्कार किसे ही मोह लेंगे—

'एक बीते के बराबर,
यह हरा ठिंगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का—
सजकर खड़ा है।
और सरसों की न पूछो
हो गयी सबसे सयानी
हाथ पीले कर लिए हैं
ब्याह मडप मे पधारी
फाग गाता मास फागुन
आ गया है आज जैसे।
देखता हूँ मैं स्वयवर हो रहा है
प्रकृति का अनुराग चचल हो रहा है।'

कवि के प्रकृति चित्रण की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमे कवि ने अपनी भावनाओं को बड़े ही उन्मुक्त रूप से प्रकट किया है। इस अभिव्यक्ति मे एक मस्ती है जो हमे 'बासन्ती हवा' शीर्षक कविता मे मिलती है। उसमें जीवन का सगीत है; वह बड़ी ही बावली और मस्तमौला है, जो धरा का बासन्ती सगीत युगों से गुँजाती फिरी है। हवा कहती है—

"चढ़ी पेड़ महुआ,
थपाथप मचाया,
गिरी धम्म से फिर
उमे भी झकोरा
किया कान मे कू

बेचारी औचक ही
चूहे के धक्के से
दाँसा के पत्थर पर
नीचे गिर, टूट गई
ताज्जुब है मुझको तो
करुणा के सागर के
अन्तर की एक बूँद
भूमि पर न छलकी।"

कवि मूर्ति पूजा की प्रथा को माध्यम बनाकर जन-मानस में स्थित ईश्वर को करुणा-सागर समझने के संस्कार पर प्रहार करना चाहता है। चित्रकूट के यात्रियों को कवि ने इस प्रकार से चित्रित किया है—

"चित्रकूट के बौडम यात्री
सतुआ, गुड़ गठरी में बाँधे
गठरी को लाठी पर साधे
लाठी को काँधे पर टाँगे,
× × ×
जैसे गुड़ के लोभी चींटे
लम्बी एक कतार बनाके
अपने-अपने बिल से निकले
बड़ी काली सेलही पहिने;
धोती ओछी गन्दी पहिने
मदे जीवन के अधिकारी।"

अपने आस-पास के जीवन का कवि ने अत्यन्त सजीव तथा वास्तविक चित्रण किया है जो उसके सूक्ष्म दर्शन का परिचायक है। बुन्देलखण्ड के जीवन तथा जनता की चेतना के स्तर को कवि ने बड़ी ही पारदर्शिता से देखा और कुशलता से ऐसे चित्र अंकित किए हैं जिनमें जनता के जीवन को समझना अत्यन्त सरल हो गया है। हट्टे-कट्टे तथा चौड़ी चकली काठी वाले आदमी केवल खाते-पीते जाते हैं। देखिए—

"हट्टे-कट्टे हाड़ों वाले
चौड़ी चकली काठी वाले
थोड़ी दाढ़ी सेनी रक्खे
केवल खाते पीते जाते।
कत्था चूना लौंग सुपारी
तम्बाकू का पीक उगलते

के कुछ गीत, जिनमें छायावाद की आत्मकेन्द्रिक शैली का प्राधान्य है। हाँ, विषय-वस्तु की नवीनता पाई जाती है। केदारनाथ के विषय में जैसाकि पहले कहा गया, हिन्दी के अन्य सभी कवियों की अपेक्षा वे अधिक सफल हुए हैं और इसका कारण उनकी ग्राम्य-जीवन से निकटता, यथार्थभेदिनी दृष्टि तथा उनका महान् जनवादी दृष्टिकोण है।

सामूहिक गीतों का सगीत लय की सामूहिक चेतना पर अवलम्बित है। अत. अधिकाश पक्तियों की आवृत्ति बार-बार होती है। 'करोड़ो का गाना' शीर्षक रचना की ये पक्तियाँ देखिए—

'हरेक तार साँस का बजाये चल
बजाये चल, बजाये चल, बजाये चल।
हजारों आदमी का दल
हजारों औरतों का दल
हजारों बालकों का दल
तड़फ-तड़फ के है विकल
नवीन जोश, जिन्दगी जगाए चल
जगाए चल, जगाए चल, जगाए चल॥

× ×

सभी का मन गुलाम है,
सभी का तन गुलाम है
सभी की मति गुलाम है,
सभी की गति गुलाम है,
गुलामियों के चिह्न को मिटाये चल
मिटाये चल, मिटाये चल, मिटाये चल।'

कवि ने किसान में एक अद्भुत आत्मविश्वास और दृढ़ आस्था की स्थापना की है। वह युग की निद्रा को खोने वाला नवयुग का वाहक है। वह गेहूँ-चना नही, वरन् खूनी अंगारे बोता हुआ दिखाया गया है—

'मेरे खेत में हल चलता है,
मैं युग की निद्रा खोता हूँ,
गेहूँ चना नहीं बोता हूँ,
खूनी अगारे बोता हूँ॥'

क्योंकि वह एक नई जिन्दगी का प्रेमी है। वह जिन्दगी की नई व्याख्या नही कर रहा है, क्योंकि आज सवाल जिन्दगी की व्याख्या करने का नही, उसे बदलने का है। अत: आज जबकि "मनुष्य ही मनुष्य का बिका हुआ गुलाम है"—कवि कहता है—

'हरेक नौजवान को यही
यही पयाम है
× × ×
महान क्रान्ति का विधान
जिन्दगी का नाम है।'

यहाँ दो शब्दो मे कवि की कविताओ के 'फार्म' पर कहना भी आवश
है। केदारनाथ की कविताओ मे कला के जिन रूपो की सयोजना की गई है उ
सर्वहारा कला के दो प्रमुख तत्त्वो का मिश्रण है। इसीलिए कला के वर्ग रूप
दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि प्रस्तुत सग्रह की कविताएँ कला मे समा
वाद यथार्थवाद को व्यक्त करने की आकाक्षा मे विरचित है। अत: उनमे
प्रमुख विशेषताएँ उभरकर आई हैं।

सर्वप्रथम कला का वह जातीय रूप जिसे अग्रेजी मे Local Colour क
हैं—केदारनाथ मे खूब मिलता है, जिसकी नियोजना के लिए कवि के पास भा
भाव और अभिव्यजना का अतुल भण्डार है। बुन्देलखण्ड के ये दो विवाह के
देखिए, जिनसे प्रकृति भी अछूती नही रही—

'एक बीते के बराबर
यह हरा ठिगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर—
छोटे गुलाबी फूल का
सजकर खड़ा है।
× × ×
और सरसो की न पूछो
हो गई सबसे सयानी
हाथ पीले कर लिए हैं
ब्याह मडप मे पधारी।'

देशी शब्दो के प्रयोगो के द्वारा यह रग और भी उभरकर आता है। इस
लिए कवि धड़ल्ले से 'बीते', 'सेतुआ', 'अधरम', 'दोंगा', 'महुहर', 'ठाड़', 'ठिगना
'भुर्रखिन', 'भिसारे', आदि शब्दो का प्रयोग करता है। बुन्देलखण्ड के मु
मुहावरो का प्रयोग भी कवि ने किया है। जैसे—

(१) जैसी गुड़ के मोंमी चींटे
लम्बी एक कतार बनाये
अपने-अपने बिल से निकले
(२) कहा हो रहीं थीं आंखा किनकी भी।
(३) ईंगा की बड़ी-बड़ी आँखें लिए।

सारे संग्रह में कवि ने अनेक प्रकार के छन्दों के प्रयोग किये हैं। जो कविताएँ मुक्त-छन्द में हैं वे भी पूर्णतया लय पर आधारित हैं। सारे संग्रह में केवल एक स्थान (पृष्ठ १०) को छोड़कर कहीं भी लय भंग नहीं होती। छंद सभी भावों के अनुकूल चुने गये हैं। जहाँ उल्लास की व्यंजना करना अपेक्षित है वहाँ, प्राय. लघु छंद चुने गये हैं, जैसे 'वासन्ती हवा' शीर्षक कविता में। जहाँ जोश तथा उत्साह की व्यंजना है वहाँ प्राय. बड़े छन्दों का प्रयोग किया गया है। कंधा रगड़ते हुए इस छन्द के प्रसार को आगे बढ़ते हुए देखिये—

जिंदगी की भीड़ में कंधा रगड़ने
और चलने से परे हो।
आदमी की आफतों से आदमी की मौत से
एक दम डरे हो॥
रेंगते हैं नाग बस्ती में धुयें के
देखकर तुम भाग आये।
खून आँसू का पसीना कर
धरातल दूर पीछे त्याग आये॥

कवि ने भूमिका में लिखा है—"अब हिन्दी की कविता न 'रस' की प्यासी है न 'अलंकार' की इच्छुक है; और न संगीत की तुकान्त की भूखी है।" यह सब होते हुए भी कवि केदारनाथ की कविता न तो रसमुक्त हो सकी, न अलंकार से असम्पृक्त और न संगीत से दूर ही। नए-नए उपमानों की सृष्टि उनकी रचनाओं में मिल जायेगी। ऐसे बहुत कम स्थान मिलेंगे जहाँ वे अलंकारों से पीछा छुड़ा सके हों, क्योंकि अलंकार कोई वस्तु नहीं जिससे कविता को मुक्त किया जावे। वे तो कवि-प्रतिभा के स्फुरण के सहज प्रतीक हैं। अनुप्रास और रूपक के प्रयोग कवि ने सर्वाधिक किये हैं। रूपक के भिन्न प्रयोग द्वारा सावन की मटमैली जलधारा का चित्र कितने सुन्दर रूप में उभरकर सम्मुख आता है—

'मोती जैसी बूँदें बरसी
धरती पर जलधारा बरसी
झाग भरे लाखों मटमैले
फन फैलाए अहिगन सरके।'

कवि ने कई जगह विषय की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों को माध्यम चुना है, जिससे प्रस्तुत विषय अधिक खुलकर उभर आया है। कवि ने जीवन में व्याप्त जटिलताओं और घुटन को अभिव्यक्त करने के लिए धुएँ के नाग के प्रतीक का सहारा लिया है—

'रेंगते हैं नाग बस्ती में धुएँ के
देख कर तुम भाग आए।'

केदारनाथ के काव्य विकास की ये दो मंजिलें हैं जिनमें कवि के दो रूप हैं। वे सन् १९३९ से लिख रहे हैं। हिन्दी की काव्य परिपाटी का उनके काव्य पर पूरा-पूरा असर है, क्योंकि एक अर्से तक वे कविता-मार्ग की प्राचीन परिपाटी की लीकों पर चलते रहे हैं। 'युग की गंगा' पर इसका प्रभाव स्पष्ट है। इसलिए 'युग की गंगा' का महत्व और बढ़ जाता है। उसमें कवि के कथनानुसार जहाँ जनता के क्षोभों की प्रतिध्वनि है, वहीं अतीत की जाग्रत और प्रगतिशील चेतना की स्पन्दनशील है। 'युग की गंगा' में जल के प्रवाह के नीचे और किनारों पर अतीत की उपजाऊ मिट्टी बिछी हुई है—यह इन कविताओं की प्रतिभा से स्पष्ट होता है।

हिन्दी को कवि से बहुत-बहुत आशाएँ हैं। एशिया की संघर्ष-निरत जनता अपने वैज्ञानिक कलाकार से आशाएँ रखती है। हमारा युग महान् सम्भावनाओं का युग है और हम मानवता के लिए महान आशाएँ लेकर चल रहे हैं। केदारनाथ इन्हीं का सक्षम वाणी-दाता है।

कविवर नागार्जुन

आधुनिक हिन्दी के सामाजिक दृष्टि से जागरूक कवियों में नागार्जुन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने काव्य क्षेत्र में प्रवेश कर जो परिवर्तन तथा कला के वर्ग स्वरूप को प्रस्तुत किया है, उससे हिन्दी कविता में एक नई धारा का प्रवर्तन हुआ है। इस धारा के अगुआ होने के नाते उनके काव्य में इस धारा की सभी शहजोरियाँ व्यक्त हुई हैं; यह धारा हिन्दी कविता की सर्वहारा धारा है।

छायावाद के बाद प्रगतिवाद का जो स्वरूप हमारी नजर के सामने आया था वह अपने मूल रूप में यह कमजोरी लेकर आगे बढ़ा था कि उसने साहित्य में अदा होने वाली मजदूर-वर्ग की भूमिका को भुला दिया था, जबकि प्रगतिवादी साहित्य में मजदूर-वर्ग की अग्रगामी संघर्षशील चेतना की अभिव्यक्ति मौजूद है। इसलिए प्रगतिवाद का प्रारम्भिक स्वरूप मध्यम-वर्ग की बौद्धिक सहानुभूति पर आधारित है। सक्रिय सहयोग और जन-आन्दोलन में बढ़कर भाग लेने की चेतना उस समय विकसित नहीं हुई थी। अतः इस समय हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने निम्नवर्ग के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की तथा उसका काव्य में चित्रण किया। इस समय के सभी लोग प्रगतिवादी कहे जाने लगे।

कालान्तर में जनता का संघर्ष आगे बढ़ा। तदनुसार प्रगतिशील काव्य के स्वरूप में परिवर्तन तथा विकास परिलक्षित हुआ। जो लोग मजदूर वर्ग से मात्र सहानुभूति प्रकट रहे थे वे मजदूर-वर्ग के आगे आने वाले आन्दोलन में न केवल भाग ले सके, वरन् उन्होंने उनके संघर्ष के रास्ते को ही छोड़ दिया। इस प्रकार के लोगों ने पथभ्रमित होकर वर्ग सहयोग के नाम पर शासक वर्ग का गुणकीर्तन कर शब्दों का एक नया इन्द्रजाल तैयार किया जो हिन्दी में अरविन्दवाद ।। किंतु इस संघर्ष के दौरान एक नई काव्यधारा का जन्म हुआ जो विकासोन्मुखी तत्त्वों का स्वाभाविक विकास है।

धारा साहित्य में मजदूर वर्ग की । उसके संघर्ष को अपने में झलकाती

है। मजदूर वर्ग की अन्तिम विजय में दृढ़ आस्था रखते हुए इस वर्ग के कवि एक अभिनव मानव समाज के निर्माण की महान् कल्पना को साकार रूप देने के लिए सकल्पबद्ध हैं। रूपात्मक दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि यह कला के वर्ग को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है। इसी धारा के काव्य को देखकर वे आलोचक जो कला के वर्ग रूप से परिचित नहीं हैं, प्रगतिवादी धारा पर कलाहीनता का आरोप लगाने से नहीं चूके है। कला के वर्ग स्वरूप के विवेचन का यहाँ स्थान नहीं, यहाँ तो इस नवीन कविता-धारा की रूपात्मक योजना पर ही विचार करना इष्ट है। यह धारा संघर्षों में तपती हुई आगे बढ़ी है। इसीलिए उसमें संघर्ष में तपने वाले मजदूर के जीवन की सादगी, कठोरता, सुलझापन तथा स्पष्टता वर्तमान है। दूसरे वह हिन्दू-उर्दू की एक मिली-जुली परम्परा को आगे बढ़ाती है। तीसरे वह देशज शब्दों के प्रयोग द्वारा यथार्थ चित्रण की ओर प्रयत्नशील है। 'जन-भावना के अनुकूल जन-भाषा प्रयोग' के सिद्धान्त को लेकर वह आगे बढ़ी है।

सन् १९४७ के बाद हिन्दुस्तान के जन-आन्दोलन ने एक दूसरी करवट बदली है। वर्ग-विरोध के महान् ऐतिहासिक सिद्धान्त पर आधारित यह आन्दोलन अत्यन्त क्षिप्र गति से बढ रहा है। हिन्दुस्तान की विशाल जनता और शासक वर्ग में विरोध बढता ही जा रहा है और क्रमश शासक वर्ग और देश महान् जनता में होने वाला यह संघर्ष दुनिया के लिए निर्णायक बनता जा रहा है। आज का शासक वर्ग जहाँ पूँजीवादी और अमरीकी डालरवाद से बँध चुका है, हिन्दुस्तान की जनता राष्ट्रीय स्वाधीनता के महान लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपने फौलादी चरण आगे बढ़ाती इतिहास का रास्ता तय कर रही है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी यह स्थिति है। अरबों अमरीकी डालरों की मदद के बावजूद चीन में होने वाली जनता की विजय ने साम्राज्यवादियों के कैम्प में संकट उत्पन्न कर दिया है। संकटग्रस्त विश्व-पूँजीवाद अपने साम्राज्यवादी स्वरूप को कायम रखने के लिए युद्ध, हिंसा, बर्बरता, दमन और वीभत्स अत्याचार पर उतर आया है, किन्तु फिर भी जनता के शान्तिवादी मोर्चे की ताकत अधिक मजबूत हुई है, यह स्पष्ट है।

नागार्जुन के काव्य के विकास को समझने के लिए यह भूमिका इसलिए आवश्यक हुई क्योंकि नागार्जुन का काव्य और हिन्दुस्तान की जनता का आन्दोलन, परस्पर जुड़े हुए रूप में आगे बढ़े हैं।

संघर्ष जीवन का प्रेरणा स्रोत है। वह कर्म का प्रदेश है, जहाँ से चिन्तन और मनन करने के लिए नयी दिशा मिलती है। संघर्ष में तपकर जो चिन्तन आगे बढ़ता है, उसमें जीवन और सौन्दर्य के प्रति सच्चा प्यार रहता है। नागार्जुन का काव्य संघर्षों से आगे बढ़ा है। इसी संघर्ष ने उन्हें एक जीवन-दर्शन तक पहुँचाया है—एक अभिनव दृष्टि प्रदान की है।

नागार्जुन मे जीवन और सौन्दर्य के प्रति अपार प्रेम है। अधुनिक युग मे जीवन की जो त्रस्त स्थिति है, उसे देखकर उनका कवि-हृदय अत्यन्त क्षुब्ध है। वह जीवन को उन्मुक्त किलकारियाँ लेता हुआ, लोरियो में झूलता हुआ, तृण, लता, तरु की हरियाली में विहँसता हुआ देखना चाहता है।

"सामने सरपट पड़ा मैदान
है न हरियाली किसी भी ओर
तृण लता तरु हीन
नग्न प्रान्तर देख
उठ रहा सर मे बड़ा ही दर्द
हरा, धुँधला या कि नीला
आ रहा चरम न कोई काम
किन्तु मुझको हो रहा विश्वास
यहाँ भी बादल बरसने जा रहा है आज
अब न सिर मे उठेगा फिर दर्द
लग रहा था आज प्रातः काल पानी सर्द
गया नहाते वक्त,
आया खयाल
हिमालय मे गल रही है बर्फ
आज होगा ग्रीष्म ऋतु का अन्त।"

हिमालय की बर्फ पिघलेगी और ग्रीष्म की विभीषिका का अन्त होगा। जीवन के नये अंकुर फूटेंगे, वाग्मती की धार भर जाएगी। पोखरो मे कुमुद पद्म उत्पन्न होंगे।

किन्तु यह होगा कैसे? जीवन का मूल आधार समाज की अर्थव्यवस्था है। जब तक वर्तमान अर्थव्यवस्था में परिवर्तन नही होता तब तक जीवन की यह उत्कट लालसा अपूर्ण है। इस अपूर्ण किन्तु उत्कट लालसा को पूर्ण करने के लिए हमे साम्राज्यवाद को समाप्त करना ही होगा। क्योकि हमारे आधुनिक जीवन मे छाई हुई विभीषिका का कारण विश्व का पतनोन्मुख पूँजीवाद तथा युद्धोन्मत्त साम्राज्यवाद है। आज समार की स्वतन्त्रता प्रेमी जनता साम्राज्यवाद के विरुद्ध निर्णायक सघर्ष कर रही है।

देश की वर्तमान असहाय अवस्था से उनका हृदय पीडित है। उनके काव्य मे इसीलिए देश-भक्ति का स्वर प्रधान है। देश प्रेम से उत्पन्न आत्म वेदना उनके काव्य मे जगह-जगह फूट पड़ी है। कहीं-कहीं उसमे व्यग्य का तीखापन, कहीं की करुण सघन छाया तथा कहीं परिस्थितियों को बदल देने के लिए सघर्ष की भावना व्याप्त है। एक तीखी अन्तर्व्यथा का चित्र देखिए—

भैया लन्दन ही पसंद है आजादी की सीता को।
नेहरू जी अब उमर गुजारेंगे अग्रेजी सेनों में।

देश की दुर्दशा पर उनके हृदय का यह दर्द ठीक भारतेन्दु की तरह का ही है। परन्तु नागार्जुन ने भारतेन्दु की तरह केवल मात्र करुणा की ही व्यंजना नहीं की, वरन् परिस्थितियों को बदल देने का महान् संकल्प भी उनके पास है जिसने उनके काव्य में संघर्ष की शक्ति नई भावना को जन्म दिया है।

जैसाकि पहले कहा गया नागार्जुन का काव्य और हिन्दुस्तान का जन-संघर्ष परस्पर जुड़े हुए आगे बढ़े हैं। १५ अगस्त सन् १९४७ में हमारे जन-संघर्ष ने एक नई दिशा ली है। प्रस्तुत आजादी से कांग्रेस के नेताओं द्वारा 'विदेशी साम्राज्यवाद से गठबंधन' हुआ, जिसमें देश के सामन्ती तत्वों को भी सुरक्षित रखा गया। देश को एक ओर तो कामनवेल्थ के शिकंजे में फँसा दिया गया और दूसरी ओर रक्त-शोषक सामन्तवादी तत्वों को एक नये रूप में विकसित करने के साधन प्रस्तुत किये गये। देशी रजवाड़ों के नरेशों को एक अप्रजातांत्रिक प्रथा के द्वारा राज-प्रमुख बनाकर जनता की आकांक्षा के विपरीत कायम रखा गया। जमींदारों और जागीरदारों को आज भी एक बड़ी रकम मुआवजे में देकर एक नये सूदखोर वर्ग को जन्म दिया जा रहा है। नागार्जुन ने इस प्रकार की आजादी को जनता के साथ विश्वासघात तथा उसके संघर्ष की पीठ में छुरा भोंकना कहा है—

"आज क्या है
कुछ नहीं बस
जन्म दिन शिशु राष्ट्र का है।
आज ही तुम मिल गये थे दुश्मनों से, गुनहगारों में
छोड़कर संघर्ष का पथ
भूलकर अन्तिम विजय की घोषणाएँ
भोंककर लम्बा छुरा तुम सर्वहारा जन-गणों की पीठ में
लड़खड़ा कर गिर पड़े थे आज ही के रोज
रेशमी तीन-रंगे गद्देले पर
लन्दनी लाऊंज पर।"

प्रस्तुत व्यवस्था में सरदार पटेल द्वारा देशी रजवाड़ों को मिलाकर उनके स्थान पर वंशानुगत श्रेष्ठता के अप्रजातांत्रिक सिद्धान्त पर राजप्रमुख पद की सृष्टि की गई। इस प्रकार की गृह-शान्ति के वास्ते सरदार पटेल के इस कार्य की प्रशंसा ने जनता को एक विचित्र चकाचौंध में डाल दिया था। रजवाड़ों के इस दुरवस्था पर व्यंग्य करते हुए कवि ने लिखा है—

[illegible]
[illegible]

वाह तुम्हारी यह अपनी सरकार
किया खूब है तुमने रजवाड़ों का जीर्णोद्धार
नई नहीं है नये सिरे से गढ़ी हुई है
खूब तेज है धार
राज प्रमुख घूमा करते हैं एक दूसरे की लम्बी तलवार
सूर्यवंश की, चन्द्रवंश की ठूंठों मे से फूट रही हैं नई कोपलें"

तैलगाने मे हुए इस कृषक-विद्रोह की एक राजनैतिक भूमिका है, जिसका सम्बन्ध हिन्दुस्तान की भूमि समस्या से है। जब तक इस महत्वपूर्ण समस्या का स्थायी हल नहीं होता; तब तक न तो देश की जनता को ही राहत मिल सकती है, और न समृद्धि की कल्पना ही की जा सकती है। धरती सदा जोतने वाले पर निर्भर है। सदियों से शोषण करने वाले जमीदारों को मुआवजा देना न्याय सगत नहीं है। हिन्दुस्तान की दसों दिशाओं मे गूँजने वाले इस स्वर को उन्होंने शब्दों मे पिरो दिया है—

"ऊबड़-खाबड़ बालू वाली धरती बजर या ऊसर
कैसी भी हो धरती निर्भर रही जोतने वाले पर।
सदियो तक लूटता रहा है जमा किया है खायेगा
दो पैसा भी जमींदार अब क्यो मुआवजा पायेगा।
गूँज रहा है दसों दिशा मे भूखे खेतिहारों का स्वर।।"

हिन्दुस्तान को आजादी मिलने के बाद इस प्रमुख समस्या का हल नितान्त आवश्यक था। परन्तु इस ओर कोई ठोस प्रयत्न करने की बजाय स्थिति को और विकृत ही किया गया। हरी-भरी फसल को चरने के लिए हैवानों को छुट्टी दे दी गई—

"बात-बात पर नाक रगड़ना पड़ता है इन्सानों को।
हरी फसल चरने को छुट्टा छोड़ दिया हैवानो को।।"

नागार्जुन के काव्य में आजादी मिलने के बाद का सारा हिन्दुस्तान और उसमें लड़ा जाने वाला जनता का सघर्ष मूर्तिमान होकर खड़े हो जाते हैं। कवि ने अपनी यथार्थ दर्शिनी दृष्टि से आधुनिक अर्थव्यवस्था, राजनीति और समाज व्यवस्था को देखा है तथा पाए जाने वाले वैषम्य के स्रोतों के मूल कारणों को खोजा है। उनके काव्य मे पीड़ित हिन्दुस्तान के दर्द और कराह के साथ ही उसकी अदम्य जीवनेच्छा की भी अभिव्यंजना हुई है, जो जीवन के लिए सघर्ष करने के लिए सन्नद्ध है। बड़े-बड़े नेताओ से लेकर छोटे-छोटे आफिसर तथा पुलिस और पल्टन के लोगों के परिमाणहीन खर्च पर अवलम्बित जीवन-चर्या को कवि ने व्यग्य का विषय बनाया है; जो देश की गरीबी से सन्त्रस्त और प्रताड़ित जनता पर आधारित है—

"पुलिस और पल्टन के हाथों जितना मारा जाते हैं।
वही रंग है वही ढंग है, फरक नहीं कुछ पाते हैं॥
ऊपर वाले बैठे-बैठे लम्बी बात बनाते हैं।
बाढ़ अकाल महामारी में काम नहीं कुछ आते हैं।
देश भक्ति की गरद मिल रही आये दिन शैतानों को॥"

जनता की अदम्य संघर्ष की भावना देशभक्ति के पावन आदर्शों पर टि
हुई है। इस आजादी में किसान-मजदूर, मेनिहर, मध्यमवर्ग और जनता के तमा
शोषित वर्गों का साझा होगा, यही जनता की सच्ची आजादी होगी, जिस
नौकरशाही का सड़ा-गला ढाँचा 'चूरमचूर' हो जायेगा तथा किसान, मजदूर औ
जनता के अन्य तमाम वर्ग प्रसन्नता से 'सुजला सुफला' के गीत गायेंगे—

"खेत मजूरों और किसानों में जमीन बँट जाएगी।
नहीं किसी कमकर के सिर पर बेकारी मँडराएगी॥
नहीं मिलेगा साजिश करने का मौका गद्दारों को।
वतन फरोशी का न मिलेगा ठेका ठेकेदारों को॥
× × ×
नौकरशाही का यह रद्दी ढाँचा हो चूरमचूर।
'सुजला सुफला' के गायेंगे गीत प्रसन्न किसान-मजूर॥"

'राम राज्य' नागार्जुन की लम्बी कविता है जो क्रमशः 'हंस' और 'प्रगति
में प्रकाशित हुई थी। इसमें नागार्जुन ने आज के काँग्रेसी शासन को गाँधी जी के
राम राज्य के स्वप्न के रूप में ग्रहण किया है और उसका यथार्थ दृष्टि से चित्रण
किया है। इसमें देशभक्त कवि की वेदना का स्वर ही प्रधान है। राम राज्य गाँधी
जी की एक महान कल्पना थी। उसे इस प्रकार से खण्डित होकर बिखरता देख
कवि का हृदय अन्तर्व्यथा से भर गया है। यह व्यथा अपने तीखे रूप में व्यंग्य में
परिवर्तित हो गई है, पर उसमें एक चोट खाये हुए देशभक्त कवि की वेदना ही
प्रधान है।

'राम राज्य में अब की रावन नंगा होकर नाचा है,
सूरत शकल वही है भैया बदला केवल ढाँचा है
नेताओं की नीयत बदली फिर तो अपने ही हाथों
भारत माता के गालों पर कसकर पड़ा तमाचा है।'
× × ×
'लाज शरम रह गई न बाकी गाँधी जी के चेलों में,
फूल नहीं लाठियाँ बरसती राम राज्य की जेलों में।
भैया लन्दन ही पसन्द है आजादी की सीता को।
नेहरू जी अब उमर गुजारेंगे अंग्रेजी खेलों में॥'

यह स्थिति उस देश के नायकों की है जिस देश की जनता का स्तर इस प्रकार है—

'दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ते से चिकनी-चुपड़ी बोली में,
रेडियो वाला शाम-सवेरे जाने क्या-क्या बकता है।'

लगता है नागार्जुन के काव्य में जैसे सारा हिन्दुस्तान बोल रहा है। वह अबोध, सीधा, सरल और ग्राम्य देश जिसके लिए विश्व में होने वाले परिवर्तन और वैज्ञानिक अनुसंधान अगम्य हैं, जिसके लिए रेडियो वाला 'जाने क्या-क्या बकने' के सिवाय और कुछ नहीं करता। नागार्जुन इसी हिन्दुस्तान की कोटि-कोटि जनता के प्रतिनिधि कवि हैं जो उनकी वाणी में बोल रही है।

गाँधी जी की मृत्यु पर उन्होंने जो कविताएँ लिखीं उन कविताओं में उस भावाकुल कवि की छटपटाहट है, जो राष्ट्रपिता की क्रूर हत्या से साथ ही विचलित हो उठा है। ये कविताएँ 'जन-शक्ति' में छपीं—जिनके प्रकाशन पर राष्ट्रपिता के अनुयायी शासक-वर्ग ने जमानत तलब की। क्योंकि नागार्जुन ने उन कविताओं में अपने दिल की छटपटाहट के साथ ही युग के उस यथार्थ को भी अंकित किया है जो जनता को धोखा देने के लिए कुछ धूर्तों ने रचा था। 'महाशत्रुओं की दाल न गलने देंगे हम' शीर्षक कविता में भी उन्होंने इसी तथ्य का उद्घाटन किया है—

'बापू मरे··· ·····
अनाथ हो गई भारतमाता ······ ·· ··
अब क्या होगा·········
हाय ! हाय ! हम रहे कहीं के नहीं
लुट गये
···रो रो करके आँख लाल कर ली धूर्तों ने
× × ×
लगे बदलने दुष्ट पैंतरे······
धरती छूकर कान छुये श्यामाप्रसाद ने
भौंपटकर ने बहा दिये घड़ियाली आँसू'

गाँधीजी की मृत्यु से भारतीय जनता के हृदय पर जैसे कठोर वज्रनिपात हुआ है। सारे राष्ट्र के हृदय में उन मनोवृत्तियों को समूल नष्ट कर देने की प्रेरणा हुई जिन्होंने हमारे राष्ट्रपिता को हमसे छीन लिया। किन्तु हमारी सरकार ने बजाय इसके कि इन देशघातक प्रवृत्तियों को समूल नष्ट करे जनता को मीठे-मीठे उपदेशों से बहलाना प्रारम्भ कर दिया—

"जोर जोर से साँस-खाँसकर
मधुर सिखावन

का प्रकोप है। रोगों का स्वर उदर गया है। अन्न के नाम पर पकडे जाने और सफाई देने की स्थिति है—

"कहीं बाढ़, भूचाल कहीं पर, कहीं अकाल कहीं बीमारी
महँगाई की क्या नजीर दूँ, मानो द्रुपद-सुता की सारी।
भूखों मरो चबाओ पत्ती, मगर अन्न का नाम न लेना।
कहीं न तुम भी पकडे जाओ कहीं सफाई पडे न देना॥
सुर बदला लीडर लोगों का हमें सब्र की सीख दे रहे।
चचा भतीजों की पौ बारह खुद ही सब कुछ हडप ले रहे॥"

देश की इस दुर्दशा को देखकर ही उन्होंने इस आजादी को अपने पैने व्यग्य का निशाना बनाया है। देश की जनता की आम समस्यायें हल न हो, उसकी इस प्रकार दुर्दशा हो तो उस आजादी को क्या कहा जाएगा ? क्या यह आजादी सही है ? नागार्जुन कहते हैं—

"कागज की आजादी मिलती
ले लो दो-दो आने में॥

नागार्जुन के इस राष्ट्रीय और देशभक्ति-पूर्ण काव्य का यह आशय नहीं कि वे साम्राज्यवाद के खौफनाक स्वरूप से परिचित नहीं है। उनकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता को भुलाकर नहीं चलती। उपनिवेशो की जनता के सघर्ष एक सूत्र मे गुथे हुए हैं। भारत आज अर्द्ध उपनिवेश की अवस्था में है, अत यहाँ की जनता का स्वतन्त्रता-सग्राम एशिया की जनता के स्वतन्त्रता सग्राम की ही एक कडी है। भारत में साम्राज्यवादी पाजिम को चुनौती देता हुआ उनका कवि कह उठता है—

'केसर की मासूम क्यारियों से आती आवाज
काश्मीर पर कश्मीरी जनता का होगा राज।'

पतनोन्मुख साम्राज्यवाद आज अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए युद्ध की विभीषिका को जन्म देना चाहता है। साम्राज्यवाद के इस सस्कृति विनाशक प्रयत्न को चुनौती देते हुए नागार्जुन ने शान्ति की चेतना को शब्दों मे सँजोया है, *क्योंकि वे जानते हैं कि युद्ध का अर्थ है सस्कृति का विनाश।* ताजमहल, शान्ति-निकेतन, अजन्ता, एलोरा और साँची मे लहराती सजीव सस्कृति का विनाश। पर उनकी शान्ति की चेतना 'मरघटशान्ति' नहीं है, वह शान्ति की सच्ची कल्पना है तो शान्ति के अतिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मनुष्य को सच्ची प्रेरणा देती है।

नागार्जुन की कला के तत्व को समझने के लिए कला के वर्गीय स्वरूप से परिचित होना जरूरी है। उन्होंने अपने काव्य के शिल्प के लिए हिन्दी साहित्य की विशाल परम्परा से चुन-चुनकर -नवादी उपकरण एकत्रित किए हैं और

है—महँगाई ऐसे बढ़ी है जैसे द्रौपदी की साड़ी हो—

'महँगाई की क्या नजीर दूँ जैसे द्रुपद-सुता की साड़ी।'

नागार्जुन की भाषा आम जनता की भाषा है और जन भावनाओं के साथ संश्लिष्ट रूप में प्रयुक्त हुई है। दूसरे उसमें व्यंजना शक्ति प्रधान है। नागार्जुन बात को वक्रता के साथ प्रयुक्त करने में भी अद्भुत कौशल रखते हैं। व्यंजना का यह चमत्कार देखिए—

'जनगण मन अधिनायक जय हो प्रजा विचित्र तुम्हारी है
भूख-भूख चिल्लाने वाली अशुभ अमंगलकारी है।
बेंद मेल, बेगुसराय में नौजवान दो भले मरे।
जगह नहीं है जेलों में—यमराज तुम्हारी मदद करे।।"

'भुस का पुतला' शीर्षक कविता प्रतीक शैली में है, जिसमें कवि ने बतलाया है कि वर्तमान व्यवस्था भुस के पुतले की तरह है जो जनता की रक्षा करने में असमर्थ है, लोमड़ियाँ खेती चर रही हैं, जनता के जागने की जरूरत है। इस भुस के पुतले का प्रतीक स्पष्ट करते हुए कवि ने लिखा है—

"सरग था ऊपर
नीचे पताल था
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल दिमाग भुस का खद्दर का खाल था।"

व्यंग्य नागार्जुन की कविता की सबसे बड़ी विशेषता है। उनके व्यंग्य में एक प्रेरक शक्ति है, एक ताकत है जो देशभक्त कवि के हृदय की अन्तर्व्यथा की प्रतिरूप है। देश की वर्तमान दुर्दशा से उत्पन्न यह अन्तर्व्यथा अपने प्रगाढ़ रूप में एक तीखे व्यंग्य में परिवर्तित होकर हमारे सम्मुख आई है—

"वतन बेचकर पंडित नेहरू फूले नहीं समाते हैं
बेशर्मी की हद है फिर भी बातें बड़ी बनाते हैं।
अंगरेजी अमरीकी जोंकों की बरात में हैं शामिल
फिर भी बापू की समाधि पर झुक-झुक फूल चढ़ाते हैं।।"

देश की अवस्था और पुलिस तथा हाकिम सहज उनके व्यंग्य के निशाने बन गये हैं—

"मलाबार के खेतिहरों को अन्न चाहिए खाने को
दण्डपाणि को लट्ठ चाहिये बिगड़ी बात बनाने को
जंगल में जाकर जो देखा नहीं एक भी बाँस दिखा
सभी कट गए—सुना देश की पुलिस रही है सबक सिखा।"

नागार्जुन के व्यंग्य में एक तीखापन विद्यमान है जो प्रतिपक्षी के कलेजे पर तीर की तरह चोट करता है। इस अमोघ व्यंग्य के साथ युग का जलता हुआ यथार्थ

ी पुन-मिलकर व्यक्त हुआ है। कवि को व्यंग्य करने की यह चेतना सामाजिक
ीवन की असंगतियों से मिली है। वह इन असंगतियों को देखता है, उसके हृदय
ं क्षोभ और क्रोध की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और बुद्धिजीवी कवि के संस्कार
टके से टूटकर बिखरने लगते हैं। ये संस्कार उसके मस्तिष्क पर आदर्शों
ी कल्पना से जमे हुए थे, व्यंग्यातुर कवि परिस्थिति और उससे सम्बन्धित
यक्तियों को अपना निशाना बनाता है। उनके व्यंग्य में देशभक्त कवि की
नोव्यथा, पतित स्वेच्छाचारी सत्तारूढ़ नेताओं का उपहास चाटुकारों का अच्छा
ासा विद्रूप तथा परिस्थितियों को बदल देने की उत्कट प्रेरणा वर्तमान है। प्रस्तुत
्वतन्त्रता मिलने के बाद देश की भीषण, अकथनीय दुर्दशा हो रही है। उससे ध्यान
टाकर एक कवि धूल पर चीनांशुक फैलाकर अपना ध्यान देशकाल से हटाकर
ूलों पर झूल रहे हैं। इस कवि का विद्रूप बनाते हुए वे कहते हैं—

> "सुरभित चीनांशुक फैलाकर रास्तों पर, धूलों पर
> देशकाल का ध्यान हटाकर झूल रहे हो फूलों पर
> अजी, धन्य हो कवि कोकिल तुम
> आज नहीं तो कल अवश्य ही नन्दन वन में आग लगेगी
> भस्मसात होने वाला है नीड़ तुम्हारा
> काम आएगी स्वर्ण-किरण की जाली
> पैराशूट बना लेना, प्रिय
> डैनों में रह गई न ताकत
> उड़ तो क्या सकते हो।"

इन स्वर्णकिरण की जाली का पैराशूट बनाकर उड़ने वाले कवि कोकिल का
ह चित्र अपूर्ण रह गया हो व यदि काया न झुलस सकने वाले चाटुकार कवि
झुलस नहीं सकती है केवल चाटुकार की काया) को ढूंढ़ना चाहें तो वह हमें
ागार्जुन के काव्य में ही शासक वर्ग की वन्दना करते हुए मिल जायेंगे। यह कवि
में भी देखिए—

> "पुलकित, कुलकित
> उल्लसित, हुलसित
> कुहकित, कुंचित
> पंत सुमित्रानन्दन
> नरम-नरम सी सुनकर सरस सी
> समयोचित पद्यावलियों में
> गाते हैं गुणगाथा
> हिला डुलाकर कुंचित कचित माथा।"

नागार्जुन के काव्य की चेतना राजनैतिक है जो उनके काव्य की विषय वस्तु को

प्राय सीमित करती है ? वैसे उन्होंने एकाधिक ऐतिहासिक चित्र भी दिये हैं, जैसे भिक्षुणी। जिसमे १००० वर्ष पूर्व के बौद्ध मठो के जीवन का चित्र है तथा जिसमे मध्ययुगीन नारी का मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित किया है। यो सांकेतिकता या प्रतीक व्यजना की शैली मे 'पीपल के पत्ते' आदि भी हैं। तब भी यह उनके काव्य की एक बडी सीमा है कि वह सम्पूर्ण जीवन मे व्याप्त अग्रगामी चेतना को अपने मे समाहित नही कर सका है। इस दृष्टि से उनका काव्य एकागी रह जाता है। राजनीति तो साहित्य का विषय बनना ही चाहिए किन्तु, प्रगतिशील काव्य के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन के व्यापक क्षेत्र का समाहार करे। ताकि सम्पूर्ण जीवन की विकासोन्मुखी चेतना को अपनाया जा सके और काव्य को एक व्यापक भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया जा सके।

दूसरी चीज —जो उनकी कुछ थोड़ी-सी रचनाओं मे पाई जाती है वह है, इतिवृत्तात्मकता। ऐसे स्थलो पर उनकी कविताओ मे भावगाम्भीर्य कम हो गया है।

तीसरी चीज जिसे प्रगतिशील कविता का प्राण कहना चाहिए, विद्रोह-तत्त्व की न्यूनता। विद्रोह और बगावत की ये भावनाएँ जाफरी के काव्य मे अपनी पूरी ताकत के साथ व्यक्त हुई हैं। नागार्जुन व्यग्य करते हैं, पर उनके व्यग्य के पीछे एक निरीह आँसू बहाती हुई जनता का स्वर ही प्रधान है। अधिक से अधिक यह जनता 'सुजला सुफला' के गीत गाने से इन्कार कर देती है। परन्तु उस क्रान्तिकारी और बगावत करने वाली जनता की शक्ति की पृष्ठभूमि अभी उनके काव्य को कम ही मिली है जो समस्त एशिया मे साम्राज्यवाद का जनाजा निकाल रही है। 'काश्मीर पर कश्मीरी जनता का होगा राज" का जनदर्प पूर्ण स्वर विरल मात्रा मे ही है क्योकि हिन्दुस्तान की जनता जहाँ एक ओर आँसू बहा रही है वही दूसरी ओर वह सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के दुर्ग को अपने भूकम्पी धक्कों से ढहा रही है। एशिया जाग उठा है और झटके से अपनी जजीरें तोड़ रहा है। एशिया की जनता "कंकालों के अस्थि शेष पर खडे विश्व साम्राज्यवाद की उठो ईंट से ईंट बजा दो" का सकल्प लेकर आगे बढ़ रही है। "आज धरा की छाती पर तुम न रहे या हम न रहेंगे।" एशिया की मुक्तिकामी जनता अपने इस महान् सकल्प को साकार करने के लिए कर्मयुग की शुरुआत कर चुकी है। एशिया की जनता के संघर्ष की क्रान्तिकारी चेतना उनके काव्य में अभी आना शेष है।

कवि त्रिलोचन

नई पीढ़ी के उभरते हुए कवियों में त्रिलोचन का महत्वपूर्ण स्थान है। वे उन कवियों में से हैं, जिनमें मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति एक अनश्वर आस्था विद्यमान है, जिसे निकट लाने के लिए वे अद्भुत क्रियाशील तथा चिन्तन में लिप्त रहे हैं।

'धरती' त्रिलोचन का पहला काव्य संग्रह है। अपनी कुछ निजी विशेषताओं के कारण यह संग्रह हिन्दी में आये दिन प्रकाशित होने वाले अन्य संग्रहों से मेल नहीं खाता। ये कविताएँ व्यापक भावभूमि पर खड़ी हुई हैं और जीवन के अनेक अंगों को छूती हुई चलती हैं। सही मायनों में उनका क्षेत्र सारी धरती ही नहीं, वरन् जहाँ तक धरती के पुत्र मानव की गति है वहाँ तक इसका क्षेत्र है। इस विस्तृत भावभूमि को अपने में समाहित कर चलने वाले काव्य संग्रह हिन्दी में अत्यन्त विरल हैं।

कवि के काव्य का विश्लेषण करने के पहले हमें उन विशेषताओं को समझना आवश्यक है, जिनके आधार पर इन कविताओं की टेक्नीक का गठन हुआ है, क्योंकि प्रायोगिक काव्य की प्रेरक सामाजिक जीवन की नई वास्तविकताएँ ही होती हैं। 'धरती' की कविताएँ टेक्नीक प्रधान हैं, प्रयोगात्मक हैं। अतः उन नई वास्तविकताओं को जानना आवश्यक है, जिनके आधार पर कवि ने प्रयोग किए हैं।

वर्तमान समाज, वर्गों से बने हुए समाज की अन्तिम कड़ी है। आज वर्गों का पारस्परिक संघर्ष अत्यन्त तीव्र हो गया है। यह संघर्ष स्पष्ट ही शोषक पूँजीपति और शोषित मजदूर के बीच है, जिसमें सर्वहारा की विजय निश्चित है। मनुष्य पहली बार इतनी शक्ति और आत्मविश्वास के साथ दुनिया को बदलने के लिए खड़ा हुआ है। कवि दृढ़ आस्था के साथ कहता है—

> 'मैं निर्भय संघर्ष निरत हो
> बदल रहा संसार तुम्हारा।'

सामाजिक लक्ष्य के प्रति जागरूक कवि की मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य तथा

संसार को बदलने की ये इच्छाएँ केवल भावात्मक मात्र नहीं वरन् एक उदात्त नैतिक चेतना से परिचालित हैं। अतः उनमें न तो कहीं झिझक और उलझन है, न ही मानसिक घुमड़न और अन्तर्विरोध ही। वरन् इस नैतिक निष्ठा के कारण उसे अपनी निष्क्रियता पर आक्रोश तथा ग्लानि भी है। झिझक को दूर कर वह उन्मुक्त रूप से कहता है—

'जिनका कदम-कदम जीवन की जय यात्रा का प्रिय प्रतीक है।
मैं सगर्व भोल्लास निरन्तर उन लोगों का गुण गाता हूँ।।'

यह कविता ऐतिहासिक दृष्टि से वही मूल्य रखती है जो 'एक भारतीय आत्मा' की 'एक फूल की चाह' का है। अन्तर यही है कि 'एक फूल की चाह' की सामाजिक चेतना केवल राष्ट्रीयता तक सीमित है; जबकि प्रस्तुत कविता की चेतना व्यापक समाजवादी संसार के लिए है। त्रिलोचन ने समाज को विकासोन्मुख परम्परा के आगे स्वयं को एक कड़ी बनाकर जोड़ दिया है। इस प्रकार हिन्दी कवि की सामाजिकता का विस्तार हुआ है, यह स्पष्ट है। अपनी निष्क्रियता में वह परिताप और ग्लानि का अनुभव करता है—

'कोई काम नहीं कर पाया
कभी किसी के काम न आया
जगती से अन्न जल पवन लेता रहता हूँ
क्या मेरा जीवन जीवन है।'

पर ऐसे क्षण कवि के जीवन में बहुत ही अल्प हैं। वह दृढ़ता से बढ़ने की बात करता है। वह परिवर्तनों का मूल्य समझता है। वर्तमान युग की पीढ़ी पर ही मनुष्य का भविष्य निर्भर है। एक महान उत्तरदायित्व उसके कंधे पर है। कवि ने उसे मनुष्यता का मुक्तिदूत कहा है; जो नूतन समाज का स्रष्टा है, जिसकी पग-

दुखी देखकर तप्त देखकर
शीतल छाया बन छाऊँ
उसका रूखा सूखा आँचल
हरा-भरा कर देने के हित
गल-गल जाऊँ मिट-मिट जाऊँ।।'

त्याग और बलिदान की यह उत्कट प्रेरणा किसी कवि में तभी उत्पन्न होती है, जबकि उसने जीवन को प्यार किया हो, उसे निकट से देखा हो; जिसका मन जीवन की सौन्दर्य चेतना से दीप्त हुआ हो। त्रिलोचन को जगत से प्यार है उन्हें जगत की प्रत्येक वस्तु सुन्दर लगती है। वह उसके सहज सुन्दर रूप पर मुग्ध है—

'धूप सुन्दर
धूप में
जग रूप सुन्दर
सहज सुन्दर'

सौन्दर्य की चेतना जैसे कवि के हृदय पर स्थायी रूप से छा गई है। उसने प्रकृति में एक सौन्दर्य अनुभव किया है। संग्रह में प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कविताओं की कमी नहीं है। जो लोग काव्य में हुए प्रकृति चित्रण को महत्ता प्रदान करना नहीं चाहते, वे यह भूल जाते हैं कि प्रकृति जहाँ मानव की चिरसंगिनी होने के कारण व्यापक मानव जीवन का अंग है, वहीं वह कवि हृदय में एक उदात्त सौंदर्य चेतना की सृष्टि करने वाली एक अद्भुत शक्ति भी है। प्रकृति के निर्मल रूप को देखकर कवि कह उठता है—

'सोचता हूँ
क्या कभी
मैं पा सकूँगा
इस तरह
इतना तरंगी
और निर्मल
आदमी का
रूप सुन्दर
धूप सुन्दर
धूप में जग रूप सुन्दर
सहज सुन्दर'

जिस कवि के हृदय में मानव के इस निर्मल रूप को पाने की चेतना होगी, वह उस रूप सौन्दर्य को और निर्मलता प्रदान करने के लिए न केवल सोचता

रहेगा, वल्कि उसके लिए जूझेगा, संघर्ष करेगा। कमर कसकर जुटेगा और लौटने का नाम नहीं लेगा—

'स्वप्नों को चरितार्थ करो अब
आगे बढ़ो कमर को कसकर
तन मन देकर
तुम्हें प्रभात पुकार रहा है राही।'

× × ×

अतः संघर्ष में—

'सांस ले चलते रहो प्रिय
ठहरने का नाम मत लो
लौटने का नाम मत लो

× × ×

अलग होकर कर्म पथ से
प्रिय विजय का नाम मत लो।'

कवि को जीवन की शक्ति पर असीमित विश्वास है। वह जानता है कि जीवन कभी पराजित नहीं हो सकता, मौत कभी विजयी नहीं हो सकती। मृत्यु पर जीवन की विजय यह प्रकृति का अखण्ड विधान है। इसीलिए वह कहता है—

'मौत यदि रुकती नहीं
तो जन्म भी रुकता कहाँ है।'

नये प्रभात की किरणों से कवि का काव्य ओत-प्रोत है। प्रभात कवि को पुकारता है, कभी वह उसके पास आता है, कभी वह भोरई केवट के घर पहुँचता है। त्रिलोचन के काव्य में 'आया प्रभात' कवि की उस मानसिक ग्रन्थि की अभिव्यक्ति है जो उसे जीवन के अधकारहीन, पराजयरहित तथा दीप्ति और उल्लास से पूर्ण भाग की ओर आकृष्ट करती है।

सामाजिक और प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त कुछ कविताएँ प्रेम सम्बन्धी हैं। पर प्रेम न तो रूप-लिप्सा पर ही आधारित है और न ही ऐन्द्रिकता या अतृप्ति ही वहाँ मिलेगी। त्रिलोचन के काव्य में हिन्दी में पहला सामाजिक प्रेम का चित्रण है; जिसमें प्रेम, विलासिता और शारीरिक भूख से परिचालित न होकर साहचर्य तथा श्रम पर आधारित है—

'आये न बहुत दिन बादल
होता निज धाम भयंकर
हरियाली रही न निर्मल
औ लगी फसल मुरझाने

योग से तुम्हें गढ़ा है। सारी कविता मे कवि ने जिस चातुर्य से रूप और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है—उसमे न तो स्थूल आंगिक वर्णन है न ही छायावादी वायवी चित्रण है, न ही अतृप्ति का उदात्तीकरण ही। कवि कहता है कि उस शिल्पी ने—

'तुम को अँधकार मे देखा
फिर दिन के प्रकाश मे देखा
बिजली चाँद लहर से उसने
तुमको मिला-मिलाकर देखा।
देख-देखकर सोच समझकर
और सुधारा और सँवारा।'

इस कविता मे कवि ने जिस काव्य सामर्थ्य का परिचय दिया है वह उसके अद्‌भुत शिल्प चातुर्य का प्रमाण है।

इसके साथ ही प्रेम के कुछ गार्हस्थिक चित्र भी कवि ने दिए हैं, जिनकी परम्परा हिन्दी मे मिट-सी गई है। शायद नये कवि प्रेम का अर्थ उसकी सामाजिक अस्वीकृति मे ही समझने लगे है, यह सामाजिक दृष्टि से कभी भी स्वस्थ नही कहा जा सकता। कवि ने *'जब कभी मैं अकेला हो जाता हूँ'* शीर्षक कविता मे मनोवैज्ञानिक रूप से गार्हस्थिक जीवन के प्रेम की तीन स्मृतियो को उतारा है। प्रेमिका के गीत सुनकर उसे अपने बीते स्वप्नो की स्मृति ताजी हो जाती है।

प्रेम के साथ ही श्रम की चेतना को कवि ने उदात्त रूप दिया है। विस्फोट और चीत्कार की नारे-बाजी से कोई कविता प्रगतिशील नही हो जाती। उसके लिए कवि की वह सूक्ष्म दृष्टि होनी आवश्यक है जिससे कि सत्य के निकटतर जाया जा सके। जब कवि प्रकृति का वर्णन करता है तब भी वह उसकी उपयोगिता की भावना का तिरोभाव नहीं होने देता। गगा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

'नावें चलती हैं तने पाल
तटभूमि हरित निर्मल विशाल
कुछ जुते खेत कृषि अंकमाल
श्रमशील विपुल मानव समवर बलशाली
गगा बहती है लहराती लहरों वाली।'

'तारको से ज्योति चलकर भूमि-तल पर आ रही है' शीर्षक कविता मे विवाह के जिस रूप को प्रस्तुत किया गया है उसमे मध्ययुगीन जीवन की छाप मिलती है। सारे ग्राम में एक सामूहिक उल्लास देखने को मिलता है, जैसे पूरा गाँव ही परिणय सूत्र में बँध रहा हो।

कवि का भावपक्ष अत्यन्त सबल है। पराजय की कल्पना से उसे भय होता

है, वह जय का प्रेमी है, उसे रूप की तृषा है, उसे रंग चाहिए, अभी उसे आँखों मे अर्थ जान पड़ता है, अभी उसे शान्ति कैसे मिल सकती है। फिर भी उसे विश्वास है कि वह राह पा गया है और उस राह पर वह—

> 'चिन्ता क्या
> शंका क्या
> बुरा क्या अकेलापन
> चलना है
> गति बल है।'

—की भावना से बढ़ रहा है।

कुछ कविताएँ युद्धकालीन है जिसमे जनता का मनोवैज्ञानिक तथा तटस्थ चित्रण है। 'चम्पा काले अक्षर नही चीह्नती' शीर्षक कविता भारतीय नारी के भोलेपन के साथ उसकी अविकसित मानसिक चेतना की ओर संकेत करती है। 'गोविन्द तुम आज नही हो' में वियोगी पिता की आत्म विह्वलता है।

इन कविताओं का भावपक्ष कुछ स्पष्ट संकेत कर देता है। एक तो कवि ने कहीं भी औसत से अधिक बनने की कोशिश नही की। फलस्वरूप उसके काव्य की चेतना सही मायने मे भारतीय जनता की चेतना है, आरोपित क्रान्ति की लफ्फाबाजी नही। वह यथार्थवादी है हवा मे पेंग नही भरता। यथार्थ के सही रूप को विविध सामाजिक अन्तर्विरोधो के बावजूद पकड़ने मे वह कुशल है। पर यह यथार्थ स्थिर वास्तविकता नही, उसका गत्यात्मक रूप है। जो समाजवाद की ओर गतिशील है। इस रूप मे वे हिन्दी के अप्रितम कवि केदारनाथ अग्रवाल के अधिक निकट है। दूसरे, कवि मे मानसिक अस्वस्थता जैसी कोई चीज नहीं है। तीसरे त्रिलोचन के काव्य की यह प्रमुख विशेषता है कि वे कही भी भावनाओं को क्षणिक रूप मे नही उभारते वरन् एक स्थायी प्रभाव डालते हैं। चौथी वस्तु है कवि की नैतिक निष्ठा, उसकी ईमानदारी। उसकी अनुभूति के प्रति तटस्थता। शब्दो की अतिरंजना उसमे नही है।

अपनी टेकनीक मे उन्होंने कुछ मनोवैज्ञानिक ढंग के प्रयोग भी किए हैं—

> 'जब जिस क्षन मे
> हारा, हारा, हारा
> मैंने तुम्हें पुकारा
> तुम आये
> मुस्काये
> पूछा—
> कमजोरी है
> बोला—नहीं, नहीं है

किसने तुमको कहा कि मुझको कमजोरी है।
तुम सुनकर
मुस्कराये
मुझको रहे देखते
मुझको मिला सहारा
जब किस छन में
हारा, हारा, हारा'

'आज मैं अकेला हूँ' कविता संगीत और लय के सौष्ठव से युक्त है। कवि जीवन का सामाजिक मूल्य समझता है। इसीलिए उससे एकाकी रहते नहीं बनता। उसका सामूहिकता प्रेमी मन एकाकीपन की चादर फाड़कर बाहर आ जाना चाहता है। क्योंकि कवि जीवन के प्रति अत्यन्त व्यापक दृष्टि रखता है। वह कहता है कि जीवन क्या मिला उसे एक रत्न मिला है, उस रत्न का मूल्य तो समाज ही समझ सकता है। एकान्त इसका मूल्य ही क्या ? एकला चलो रे भावना लेकर दृढ़ निश्चयी बनकर चल देता है। पर उसकी चेतना जैसे फिर से मुड़ पड़ती है वह सारे समाज को अपने साथ ले चलना चाहता है। 'एकला चलो रे' का आत्म विश्वास उसमें है, पर पूँजीवाद का दर्शन, व्यक्तिवाद उसमें नहीं है। इसीलिए वह समाज को साथ लिए बिना आगे नहीं बढ़ पाता—

'आज मैं अकेला हूँ
अकेले रहा नहीं जाता, रहा नहीं जाता
रतन मिला है यह
धूल में कि फूल में
मिला है तो मिला है यह
मोल-तोल इसका
अकेले कहा नहीं जाता
सुख आये दुःख आये
दिन आये रात आये
फूल में कि धूल में
आये जैसे जब आये

भोगी भार दिन की
अकेले सहा नहीं जाता।'

कविता की लय कहती है कि उसके निर्माण में कवि ने लोक-गीत की किसी सुन्दरतम लय को तराशा है और नई-नई भावना को उसमें ग्रथित कर दिया है। कवि ने नई छन्दों के नए प्रयोग किये हैं, और इसके साथ ही उसने जिन पुराने छन्दों का व्यवहार किया है उसमें एक नई शक्ति भर दी है।

जहाँ प्रयोग के लिए, नई वास्तविकता को प्रेषित करने के लिए व्यंजना को माध्यम बनाया है वहाँ कविता में संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति कुछ अधिक आ गई है। जैसे 'पथ पर चलते रहो निरन्तर' शीर्षक कविता में। जिसमें 'पथिक चरण ध्वनि से दो उत्तर' इन शब्दों पर ही सारी व्यंजना आधारित है। निराला जी के ढंग के भी कुछ प्रयोग हैं। उन्हीं के ढंग के एक गीत की ये पंक्तियाँ—

'देख-देख भरे नयन में भाव
भाव वे जिनमें न रच दुराव
या बिलगाव
समझ पाया मधुर-मधुर स्वभाव'

—गीतिका के छन्दों की स्मृतियाँ ताजा कर देती हैं। एक छन्द और देखिए—

'बढ़ रही क्षण-क्षण शिखाएँ
दमकते अब पेड़ पल्लव
उठ रहा देखो विहग रव
गये सोते जाग
बादलों में लग गई है आग दिन की
पूर्व की चादर गई जल
जो सितारों से छपाई
दिवा आई, दिवा आई
कर्म का ले राग
बादलों में लग गई है आग दिन की।'

संगीत की सुष्ठु योजना के साथ ही कवि नाद-सौन्दर्य की सर्जना में दक्ष है। 'आग'—'दिन की आग' की ध्वनि अन्त तक गूँजती रहती है। निश्चय ही निराला की 'जागो फिर एक बार' के सशक्त संगीत के तूर्यनाद को उतने ही सशक्त माध्यम में अधिक विकसित कर कवि ने हिन्दी काव्य के विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। वह उन्हीं की परम्परा का, सिन्धुराग का गायक

प्रगतिवाद : आक्षेप और निराकरण

प्रगतिवाद पर हिन्दी में लगातार आलोचना की पुस्तकें लिखी जा रही हैं, जो इस तथ्य की परिचायक हैं कि प्रगतिवाद हिन्दी-साहित्य की जीवन्त प्रेरणा शक्ति है और वहाँ साहित्य की नवीन भूमि का निर्माण हो रहा है। प्रगतिवाद ने साहित्य के क्षेत्र मे नवीन दिशा का प्रवर्तन किया है और यह नवीनता अब दिन-ब-दिन बढ़ती ही जा रही है। किन्तु यह खेद का विषय है कि जहाँ प्रगतिवाद अपने तूफान से चरण बढ़ाता हुआ अभिजात्यवर्ग की कला के शव पर नये निर्माण का बिगुल फूँकता हुआ अहरह गति से बढ रहा है, वही उसके आलोचकगण आज भी अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त नही हो सके हैं। फलत आलोचकों ने प्रगतिवाद पर जो दोष आज से १० वर्ष पहले लगाये थे वे ही दोष वे आज भी लगा रहे हैं। हाँ, विरोध का स्वर अब कुछ उखड़ा-उखड़ा तथा विक्षिप्त सा अवश्य लगता है। धर्मवीर भारती की पुस्तक 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' इस कथन का प्रमाण है।

प्रगतिवाद के प्रारम्भ से कुछ सामान्य आधार थे। एक तो यह कि वह युग की सामयिक परिस्थितियो को काव्य में प्रतिबिम्बित करता है, जनता की विकासशील परम्परा मे साहित्य अपना भी योग देता है। साथ ही प्रगतिवाद साहित्य को केवल मनोरंजन का साधन न मानकर उसकी सामाजिक उपयोगिता मे विश्वास रखता है। दकियानूसी आलोचकों के मतानुसार इसी कारण उसका स्थान साहित्य की श्रेष्ठतम स्थिति (कुण्ठाजन्यता) से गिर जाता है और आनन्द की शुद्ध उपलब्धि उससे नहीं होती। इसी प्रकार के आक्षेप हैं जो आज तक के दकियानूसी आलोचक प्रगतिवाद पर लगाते आये हैं और उसका विरोध करते रहे हैं।

धर्मवीर भारती की पुस्तक इस दृष्टि से कोई नयापन नहीं रखती, क्योंकि इस प्रकार के कई आक्षेप एक बड़े पैमाने पर पहले लगाये जा चुके हैं और अब वे इतने घिस गये हैं कि उनकी प्रभावात्मकता पूर्णतया नष्ट हो गई है। अस्तु प्रतिवादन के ढंग मे भारतीजी ने एक नया पैंतरा खेला है। वह है रूसी साहित्य के इतिहास की गलत व्याख्या करना और जनता को गुमराह करते रहना। जनता

से कहना कि प्रगतिवादी गलत कहते है, रूस मे इसके ठीक विपरीत हुआ है आदि।

दूसरे प्रगतिवाद पर आज तक जितनी पुस्तके लिखी गई हैं उनका आधार केवल सुनी-सुनाई बातें रही है, जिसमे यह स्पष्ट होने मे जरा भी कठनाई नही रहती कि लेखक को प्रगतिवाद के प्रारम्भिक सिद्धान्तो का भी ठीक ज्ञान नही है। श्री शिवचन्द्र शर्मा और विजय शकर मल्ल की पुस्तकें इसी प्रकार की हैं। भारती का पैंतरा कुछ भिन्न है। उनका तर्क उल्टा है—भारत के प्रगतिवादी 'प्रगतिवाद' को नही जानते हैं। यद्यपि भारती की समझ आगे स्पष्ट हो जायेगी, किन्तु ये भी तो 'हौसले' है।

लेखक ने प्रारम्भ से ही रूसी साहित्य को अपने सिद्धान्तो के अनुकूल ढालकर उदाहरण के रूप मे उपस्थित किया है और भारत के प्रगतिशील लेखको को सलाह ी है कि वे रूस के इस साहित्य का अनुकरण करे। यह बात उन्होने जगह-जगह हरायी है। उनके मतानुसार भारतीय प्रगतिवादी अभी मार्क्सवाद और रूसी हित्य को नही समझ पाये हैं वे लिखते है—

"मुझे बेहद आश्चर्य होता है कि जो भारतीय प्रगतिवादी बिना किसी तमीज रतीय धर्म परम्परा का विरोध करते है, उन्होंने भारतीय धर्म का तो यन ही नही किया। मुझे तो लगता है कि उन्होंने रूसी साहित्य भी पढने की ा नहीं की, या पढा भी है तो शायद समझे नही।"

ालोचना की इस शैली पर बाद मे लिखा जायेगा। क्योकि यह गाली-गलौज की पुस्तक का प्राण ही है। भारतीय धर्म के अध्ययन की बात कहते हैं। हम कें इतना ही कहना चाहते हैं कि जिन प्रगतिशील लेखको ने धर्म पर कलम है, (उदाहरणार्थ श्री राहुलजी, श्री भगवतशरणजी उपाध्याय आदि) नकें एक बार भारती पढ़नें तो ज्ञात हो जायेगा कि इन लेखको को कुछ या नहीं। पुस्तको के नाम मैं नही बताऊँगा, बेहतर हो कि किसी लायब्रेरी ग' देख लें। रहा रूसी साहित्य को पढ़ने और समझने का सवाल तो चाहिये कि वे किसी लायब्रेरी के सदस्य बनें और वहाँ से प्रगतिशील किया हुआ रूसी-साहित्य का अनुवाद पढ़ें, बाद मे फतवा दें। कोटेशन रने की आदत कहाँ तक ठीक है? हाँ, प्रगतिशील लेखको ने रूसी ड़ा था तब मायकोवास्की के विद्रोह को शुद्ध शैलीगत नही समझा र मे सोचेंगे।

ेखक द्वारा लगाये आरोप तथा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर विचार हना है कि भारतीय प्रगतिवादी रूस का अन्धानुकरण करने

और मार्क्सवाद का महत्व स्वीकार करते हुए भी मैं उन्हें लेखक

अनेकों में से एक का प्रयोग मानना हूँ और चाहता हूँ कि भारतीय प्रगतिवादी रूस का अन्धानुकरण न करें, वरन् अपनी सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप सर्वथा मौलिक साहित्य दें।"

आप महत्त्व स्वीकार करते हैं... भली बात है, धन्यवाद। प्रगतिशील लोग रूस का अन्धानुकरण करते है यह कई जगहों पर लिखा गया है, परन्तु यह अन्धानुकरण क्या है? भारती नहीं बताते। साथ ही, चूँकि इस प्रकार के प्रयोग रूस में हो चुके हैं, अत भारत में न किये जायें, यह तर्क कोई संगति नहीं रखता और न कोई बुद्धिमान व्यक्ति परिस्थितियों के अनुकूल किसी प्रयोग को अपनाने को अन्धानुकरण ही कह सकता है। रूस में लेखकों ने सामाजिक प्रगति में बढ़कर हिस्सा लिया है और यदि भारत का लेखक भी सामाजिक प्रगति में भाग लेता है तो वह अन्धानुकरण है, यह नहीं माना जा सकता।

जिन आधारों पर भारतीय प्रगतिवादियों को रूस का अन्धानुयायी कहने का साहस भारतीय करते है, उन्हीं आधारों पर तुलसी, कबीर, भारतेन्दु, रवीन्द्र तथा प्रेमचन्द को भी रूस का अन्धानुयायी कहा जा सकता है। लेकिन यहाँ तर्क स्वयं के पैर तराशने लगेगा। भारत की सम्पूर्ण प्रगतिशील परम्परा को रूस का अन्धानुकरण कहने का साहस आज तक कोई भी प्रतिक्रियावादी आलोचक नहीं कर सका है। हाँ, जब विरोधी वर्ग के स्वार्थों पर चोट होती है तो वे इसी प्रकार बौखलाया करते हैं। अन्त में सर्वथा नये और मौलिक साहित्य की बात उन्होंने की है, क्योंकि उनका मत है कि प्रगतिवादी साहित्य में कुछ नयापन नहीं है। वे लिखते हैं—

"हिन्दुस्तान की कुछ ऐसी बदकिस्मती रही कि यहाँ प्रगतिवाद का प्रवेश तब हुआ जब विदेशों में उसका दिवाला निकल चुका था। विदेशों की इस उतरन को हमने बड़े चाव से पहना, जबकि हमारे अपने साहित्य में किसी भी प्रगतिवाद से सौगुनी शक्तिशाली प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं।"

प्रगतिवाद को विदेश की उतरन कहकर तिरस्कृत करना प्रतिक्रियावादी हथकंडा है। प्रथम तो प्रगतिवाद ऐसा कोई मतवाद नहीं जो कहीं से लाकर लेखकों पर थोपा जा सके। क्योंकि वह तो अपने ही युग की परिस्थिति की देन है, उसकी जड़ें अपने देश की ही जमीन में होती हैं और वहीं से वह खाद्य-पानी ग्रहण करता है। दूसरे उतरन का सवाल तो तब होता जब मानव का प्रगति से सम्बन्ध टूट जाता। विश्व की गतिशीलता तथा उसका विकास समाप्त हो जाता। जब तक मानव और प्रगति का सम्बन्ध है इस प्रकार का कथन प्रगतिवाद के दिवालियेपन का नहीं, लेखक के खुद के दिवालियेपन का परिचायक है। हाँ, एक बात मजेदार है—भारत के प्रगतिशील लेखकों को भारती का यह गुरुमन्त्र मान लेना चाहिए, तथा अब इस 'उतरन' को उतार फेंकना चाहिए एवं सर्वथा नवीन

साहित्य का निर्माण किया है।"

इसी प्रकार आर० ए०पी० पी० के तोड़े जाने का कारण भारती ने आवरवाल की वर्गवादी नीति बताई है। कोई हर्ज नहीं, गवाही चाहिए तो हिन्दुस्तान के महान् लेखक श्री शिवदान सिंह चौहानजी का 'प्रगतिवाद' उठाकर देख लीजिये। यह कथन मूलत गलत है। आर० ए० पी० पी० भग होने का कारण स्टालिन के अनुसार उसमें घुसे दकियानूसी लेखक थे, जो संस्था को गलत रास्ते पर ले जा रहे थे, और इसी कारण उक्त संस्था भग हुई।

भारतीजी के द्वारा इतिहास को तोड़े जाने तथा उसकी गलत व्याख्या किये जाने का यह तरीका देखिये। भारतीजी लिखते हैं—

"रूस मे परिस्थिति कुछ दूसरी ही रही। जिस समय रूस मे क्रान्ति हुई और नई चेतना को विकास पाने का अवसर मिला, उस समय रूसी साहित्य टेक्नीक के प्रयोगो मे मस्त था। 'मायकोवास्की जिसने अपने को प्रोलेतेरियन वर्ग का कवि घोषित किया था—का विद्रोह भी मूलत शैलीगत विद्रोह था।"

सबने यह सुना होगा (भारती के अनुसार पढने की कृपा तो किसी ने की ही नही है। पृष्ठ १६०) कि मायकोवास्की ने युग की सामाजिक विषमताओ से विद्रोह कर नई भविष्यवादी कविता का प्रवर्तन किया था और रूस के अधिकाश लेखकों ने उसमे भाग लिया था। किन्तु भारती कहते हैं—'मायकोवास्की का विद्रोह शैलीगत था।' रूस के साहित्यकारो ने अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को समझा था और उसे बड़े शानदार तरीके से निभाया भी था। किन्तु इस लेखक के मतानुसार रूस की सारी क्रान्तिकारी परम्परा टेकनालॉजिस्ट थी। वह क्रान्ति के समय प्रयोगशाला मे बैठी प्रयोग कर रही थी। आखिर ऐसा लिखने मे लेखक का तात्पर्य क्या है? रूस की शानदार परम्परा की वह इस प्रकार गलत व्याख्या क्यो कर रहा है? वह ऐसा लिखकर लेखको पर क्या प्रभाव छोड़ना चाहता है। स्पष्ट है कि लेखक अन्य लेखको से परोक्ष रूप से यही कहना चाहता है कि आपका विद्रोह (मूलत') शैलीगत हो, फिर चाहे आप उसे सामाजिक रूप दे दें।

भारतीजी से पूछा जाये कि फिर सामाजिक रूप क्यो दे दें ' जनता को धोखा देने के लिये? और क्या मायकोवास्की ने भी यही किया है?

इसी प्रकार नये लेखको का मनोबल तोड़ने के लिए भारती लेखकों के व्यक्तिगत स्वार्थ को उभारते हैं और उसके लिए रूस के साहित्य का सहारा लेते हैं। उनका कहना है—लेखक सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाये या नहीं—यदि समाजवाद आ भी गया तो उसकी तो कद्र होगी ही। वह जनता से अपना सम्बन्ध जोड़े या नहीं, जिन्दगी का गीत गाये या मर्सिया गाता रहे, अस्वस्थ प्रेम के गीत अलापता रहे उसे किसी प्रकार की कमी होने वाली नहीं है। समाजवादी ' भी उतना ही सम्मान मिलने वाला है जितना कि एक जनता के

लिए लड़कर मरने वाले कवि को और व्यक्ति-स्वार्थ को भड़काने के लिए वे कहते हैं—उसकी (लेखक की) कवितायें भी पाठ्य-क्रम में उतनी ही रखी जाएँगी जितनी क्रान्तिकारी कवि की। फिर क्या आवश्यकता है कि कवि व्यर्थ में ही सामाजिक संघर्षों में फँसता फिरे? इसके लिए भारती ने मायकोवास्की और येसेनिन का उदाहरण पेश किया है—

"सन् ४३ में सरकार की ओर से रूसी कविताओं का एक संग्रह छपा है जिसमें मायकोवास्की और येसेनिन दोनों को समान स्थान मिला है। दोनों के २१-२१ गीत हैं। येसेनिन का मृत्यु-पर्व भी सरकार की ओर से मनाया जाने लगा है।"

येसेनिन को मायकोवास्की के समान स्थान मिला हो, व उसका मृत्यु-पर्व भी सोवियत सरकार मना रही हो, यह दूसरी बात है "इसका उत्तर येसेनिन का काव्य है न कि उसकी क्रान्ति-विमुखता। किन्तु इस उदाहरण के द्वारा भारती ने किस तरकीब से एक चोर छिपाकर नये लेखक के हृदय में छोड़ा है। सामाजिक संघर्ष करने से क्या फायदा है? छोड़ो प्रगतिशील कविता लिखना। लिखना शुरू करो—'मिलन-यामिनी' या 'इन फीरोज़ी ओठों पर बरबाद मेरी जिन्दगी।' मध्यवर्गीय नये प्रगतिशील लेखक को भारती गढ़ा भेजते हैं इस संघर्ष से क्या फायदा? बेकार सरकार की कोप-दृष्टि का भाजन बनोगे और जो लोग आज प्रेम के गीत लिख रहे हैं उन्हें भी समाजवादी व्यवस्था में तुम्हारे समान ही स्थान मिलेगा। यह एक अव्यक्त और छिपी हुई ध्वनि है जो भारती द्वारा दिये गये इस उदाहरण से लिपटी हुई चली आ रही है और जिसके द्वारा लेखक नये लेखकों का मनोबल तोड़ने की कोशिश करता है।" विचारना चाहिए कि लेखक सत्य को इस ढंग से क्यों उपस्थित करता है? लेखकों के मनोबल को क्यों तोड़ना चाहता है? साफ सी चीज है वह किसी वर्ग विशेष के स्वार्थ के लिए एक मोहरा बन गया है। इसीलिये हिन्दी की प्रगतिशील धारा पर उसने अनचाहा प्रहार किया है—वैसे तो हिन्दी की इस प्रगतिशील-धारा का विवेचन इस पुस्तक का विषय नहीं रहा है। इसका विषय तो केवल [illegible] ना है। अत. यहीं भी प्रगतिशील साहित्य के [illegible] किया है। गाली-गलौज के लिये [illegible] है। लेखक ने इसी गाली-गलौज के

[illegible] गये थे [illegible] न कर एक विहत, [illegible] बिहार के रमण की [illegible] गया था और जिसमें [illegible] की सटकी हुई छानियों

और ग्राम-युवतियों की कच्ची लालसाओं से कुछ का विकास कर क्रान्ति की चेतना उत्पन्न करता है।''

इसके सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि इस कथन में झूठ को भी ऐसा सजाकर रख दिया गया है कि अनायास ही उसे कोई छूट आया है। बिहार के रमा की 'मारगी' निश्चय ही एक पतनशील रचना है। उसमें अश्लीलता भी सीमा पार गयी है, किन्तु प्रगतिशील क्षेत्रों में उसका स्वागत हुआ तथा प्रगतिशील लोग उसे पचा गये यह कथन नितान्त मिथ्या है। इस पुस्तक का विरोध करते हुए अमृतराय ने अपने 'हंस' में लिखा था—

"सभी कवितायें पाठकों की कुरुचि पर आघात करती हैं और साहित्य के सगी भी मान से उन्हें पतनशील कहा जा सकता है। हिन्दी में ऐसी कवितायें प्रकाशित होते देख माथा शर्म से झुक जाता है। इस गन्दगी को कवि ने अ... ही रखा होता तो हिन्दी पाठक कितना उपकार मानते।''

—(नई समीक्षा से

इससे साफ जाहिर है कि भारती किस प्रकार झूठ को सच बनाकर पेश क... रहे हैं। बेहतर होता प्रगतिवाद पर पुस्तक लिखने के पहले भारती प्रगतिशील पत्रों में प्रकाशित सामग्री नहीं पढ़ते तो कम-से-कम सम्पादकीय टिप्पणिय... अवश्य पढ़ लेते, परन्तु पुस्तक को पढ़ने से ज्ञात होता है कि लेखक ने 'हंस' क... य नहीं तो कुछ सम्पादकीय टिप्पणियाँ अवश्य पढ़ी हैं। फिर भी चेतन रूप से लेखक का यह कथन कि प्रगतिशील लोग इस गन्दे साहित्य को पी गये, भारती की महान ईमानदारी की निशानी है।

प्रगतिशील साहित्य पर लेखक का दूसरा आक्षेप है कि वह कलापक्ष से हीन है। उसमें कला मर गयी है। इस विषय पर भारतीजी ने पूरा एक अध्याय लिखा है। उम्मीद की जाती थी कि भारती सम्पूर्ण प्रगतिशील साहित्य का विश्लेषण करके बतलायेंगे कि उसमें किस प्रकार से कला का अभाव है। आशा थी कि वे पहले कला के तत्त्वों का विवेचन करेंगे जो साहित्य के आधार हैं और उसके बाद कवियों में—अचल, नरेन्द्र, सुमन, केदार, नागार्जुन, शील, राकेश, शैलेन्द्र आदि उपन्यासकारों में यशपाल, अश्क, नागर, राधाकृष्ण, रांगेय राघव, भैरव-प्रसाद आदि निबन्ध लेखकों में रामविलास, भगवत शरण उपाध्याय, राहुल, महेश-चन्द्र राय, विश्वनाथ नरवाणे आदि तथा साहित्य की अनेक विधाओं के लेखकों की रचनाओं की समीक्षा करेंगे और बतलायेंगे कि प्रगतिशील साहित्य में किस प्रकार से कलात्मक तत्त्वों का अभाव हो गया है, परन्तु खेद है कि इस पूरे अध्याय को पढ़ने के बाद उन लेखकों के नाम भी मालूम नहीं होते जिन्होंने कला का गला घोंट दिया है। इस पूरे अध्याय में चार बातें स्पष्ट रूप से नजर आती

(१) रूस के लेखक प्रारम्भ से ही टेक्नॉलाजिस्ट रहे है। हमे प्रयोग करना चाहिए।

(२) हमें छायावाद की शैली अपनानी चाहिए।

(३) चौहानजी ही ईमानदार लेखक हैं, पर उन्हें अपेक्षित स्थान नही मिला।

पहले तर्क का हम विवेचन कर आये हैं कि लेखक ने किस प्रकार मायको-वास्की को प्रयोगवादी सिद्ध किया है। छायावाद की शैली अपनाना चाहिए और नये प्रयोग करना चाहिए ये दो परस्पर विरोधी बातें हैं। दूसरी बात छायावाद की ओर लौट चलने की है, वह एक विक्षिप्त स्वर है। छायावाद की शैली मे जो अच्छाइयाँ हैं उन्हें प्रगतिशील लेखक ग्रहण कर रहे है और दुरूहता, अस्पष्टता आदि दोषो का उन्होंने परिहार भी किया है। हाँ, भारती संकेतवाद को भी मनवाना चाहते हों तो उसे प्रगतिशील लेखक मानने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि वह छायावादी अस्पष्टता का एक अग मात्र है, अगी नही।

तीसरी चीज विचित्र है। भारती के हृदय मे न जाने क्यों श्री शिवदानसिंह जी के प्रति श्रद्धा का सागर उमड़ा और उन्होंने उनकी स्तुति में गद्य रचना शुरू कर दी। क्योंकि उनके मतानुसार केवल श्री शिवदानसिंहजी चौहान ने ही कलात्मकता का मूल्य पहिचाना है। मेरे एक मित्र का विचार है कि भारती की इस श्रेष्ठ आलोचनात्मक (सृजनात्मक ?) कलाकृति के प्रेरणासूत्र सिवाय श्री चौहान जी के और हो ही कौन सकता है।

इस अध्याय के अन्त में लेखक ने लिखा है—

"दृष्टिकोण की सकीर्णता और कलात्मकता की उपेक्षा के कारण भारतीय प्रगतिवादी साहित्य मे आज न तो प्रगति है न साहित्यिकता।"

यह फतवा देने के पूर्व यदि लेखक महोदय ने प्रगतिशील साहित्य नही पढ़ा था तो कम-से-कम प्रगतिवाद के विरोधी आलोचक प० नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में जो मत प्रदर्शित किया है उसी को ध्यान से पढ लेते। श्री वाजपेयी लिखते हैं—

'आज हिन्दी में श्रेष्ठ-साहित्य सृजन के कौन से क्षेत्र हैं ? निश्चय ही समाजवादी विचारों के क्षेत्र। क्यो ? क्योंकि उन्ही क्षेत्रो ने इस समय नवीन प्रतिभा को आकर्षित कर रखा है। क्यो नहीं आज प्रचलित धार्मिक क्षेत्रो मे श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाएँ और सुन्दर कला का निर्माण हो रहा है ? क्यो आज वे पुरानी अनुकृति मे ही अथवा दूसरे नवीन क्षेत्रों की प्रगतिशील शैलियो को अपनाकर ही सन्तोष कर रहे हैं ? स्वत नई भूमि क्यो नही तैयार करते ?"

अकेले वाजपेयीजी ही नहीं, प्रगतिवाद के विरोधी हिन्दी के पच्चीसो आलोचकों के मत यहीं उद्धृत किये जा सकते हैं। परन्तु जो ईमानदारी को ताक

में रखकर गालियाँ देने बैठे हो उसके लिये क्या कहा जाय ?

(४) प्रगतिवाद में भारती की चौथी शिकायत यह है कि वह उनके द्वारा परिभाषित राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करता। इस विषय पर भी पूरा एक अध्याय है जिसे दो भागों में बाँटा जा सकता है। (१) प्रगतिवादी व्यर्थ ही प्रसाद जी को पलायनवादी कहते हैं और (२) रूस में सामन्ती-साहित्य का सृजन हो रहा है।

जहाँ तक पहला आक्षेप है, प्रसादजी को पलायनवादी प्रगतिवादियों ने बाद में कहा है। उनसे पहले ही हिन्दी के बीसों अन्य आलोचक उन्हें पलायनवादी घोषित कर चुके थे और जिनमें से कई तो पुराने रसशास्त्री रहे हैं। किन्तु—खैर, बावजूद इस सबके यदि भारती इसका श्रेय प्रगतिशील आलोचकों को ही देना चाहते हैं तो हमें कोई आपत्ति नहीं। नेकी और पूछ-पूछ। प्रसादजी के नाटकों के विषय में हिन्दी के प्रगतिशील आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि—'प्रसादजी की प्रतिभा उनके नाटकों में 'कामायनी' की अपेक्षा अधिक प्रस्फुटित हुई है' और इस पर भी यदि भारतीजी कहते हैं कि प्रगतिशील आलोचक प्रसादजी के नाटकों के निन्दक हैं तो क्या कहा जाय ? आचार्य हजारी-प्रसादजी द्विवेदी के 'विचार और वितर्क' की आलोचना करते हुए डॉ० रामविलास ने प्रसादजी के नाटकों के सम्बन्ध में अपनी राय जाहिर की है परन्तु उसे पढ़ने का कष्ट श्री भारती ने नहीं किया। वहीं भारती डॉ० नगेन्द्र को प्रगतिशील आलोचक तो नहीं समझते हैं, क्योंकि प्रसादजी के प्रशंसक रहते हुए उन्हें पलायन-वादी घोषित करने में वे सबसे आगे रहे हैं।

और जहाँ तक दूसरे आक्षेप का सवाल है कि रूस में सामन्ती-साहित्य का सृजन हो रहा है, एक बेबुनियाद बात है, जो प्रकट करती है कि लेखक अभी राष्ट्रीयता के क-ख-ग से भी परिचित नहीं है। लेखक के कथन की परस्पर विरोधी और असंगत बातें इसकी साक्षी हैं। देखिए रूस की राष्ट्रीयता उदार है या कट्टर ?

'यह उदार राष्ट्रीयता जो अपने गर्व के साथ दूसरों का सम्मान भी पहचानती है हर जाति के लिए एक गौरव की चीज होती है और महान् रूसी जाति के लिए यह राष्ट्रीयता, गौरव और दृढ़ता की चीज है। यह रूस की संस्कृति और प्रतिष्ठा को बल और प्रेरणा देगी।' (पृष्ठ ७९)

× × ×

'लेकिन भारत के प्रगतिवादियों के दोषों के कारण हमको रूसी प्रगति-वादियों का मूल्य कम न करना चाहिए। उन्होंने सचमुच अपने सच्चे राष्ट्रीय (कट्टर) साहित्य का निर्माण किया है।'

पाठक बतायें कि रूसी-साहित्य में कट्टर राष्ट्रीयता पनप रही है या उदारता ?

। राष्ट्रीयता का एक गण्य मूलक 'धर्मवीर भारती संस्करण ?'

भारती ने राष्ट्रीय इतिहास के आधार पर साहित्य-सृजन की बात कही है। स्तुत इतिहास के लिए यह दृष्टिकोण पूर्णतया अवैज्ञानिक तथा भ्रमोत्पादक । इतिहास के राष्ट्रीय दृष्टिकोण पर विवेचन करते हुए सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता ी भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है—

'शुद्ध वैज्ञानिक रूप में इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय होता है। राष्ट्रीय इतिहास अवैज्ञानिक और अशुद्ध है। जिस प्रकार राष्ट्रीय औषधि, राष्ट्रीय रसायन, राष्ट्रीय विज्ञान नहीं हो सकते, वैसे ही राष्ट्रीय इतिहास भी नहीं हो सकता।'

और भी आगे उन्होंने लिखा है—

'राष्ट्रीय इतिहास की ही बुनियाद का फल है कि अतिस्त्रीगामी, विलासी पृथ्वीराज युद्ध से भागता हुआ सरस्वती तट पर मारा जाकर भी अमर है और नरपुंगव जयचन्द अपनी मुट्ठी भर सेना के साथ अस्सी वर्ष की बुढ़ौती में चन्दावर मैदान में शहीद होकर भी कायरता और देशद्रोहिता का प्रतीक बना हुआ है। इतिहास की राष्ट्रीयता पर यह विकट व्यंग्य है, अमोघ और अमिट।'

इतिहास न पढ़कर भी इतिहास के दृष्टिकोणों का विवेचन ही यदि लेखकों का अभीष्ट हो तो फिर क्या कहा जा सकता है?

'प्रगतिवाद और रोमांटिक प्रेम' के नाम पर एक पूरा लेख लेखक ने लिखा। इसमें लेखक यह मानकर ही चला कि प्रगतिवाद रोमांस का विरोधी है। समझ में नहीं आता कि लेखक ने यह स्थापना क्यों कर ली? किसी भी प्रगतिशील लेखक का यह कहना नहीं है कि प्रगतिशीलता के क्षेत्र में प्रेम को बहिष्कृत कर देना चाहिए। उलटा प्रगतिशील लेखकों ने तो यह लिखा है कि—'और जिसके हृदय में प्रेम की नदी न बहे वह कवि ही क्या?' (डॉ० रामविलास, तारसप्तक का वक्तव्य) प्रगतिशील कवियों के काव्य, उपन्यासकारों के उपन्यास, आए दिन प्रकाशित होने वाली कहानियाँ भारती की इस बात को झूठा सिद्ध करती हैं। फिर भी लेखक ऐसा क्यों लिखता है कि प्रगतिशील साहित्य ने प्रेम को अपने क्षेत्र से बाहर निकाल दिया है। साफ-सी चीज है या तो लेखक ने प्रगतिशील साहित्य को पढ़ने की चेष्टा नहीं की और यदि उसने पढ़ा है तो यह स्पष्ट प्रकट होता है कि लेखक एक खास तरीके के प्रेम का प्यासा है और उसी को वह प्रगतिशील साहित्य में ढूंढ रहा है। खेद है प्रगतिशील साहित्य आपको यह विशेष प्रकार का प्रेम देने में असमर्थ है। प्रगतिशील साहित्य से नये सामाजिक प्रेम का प्रारम्भ हो रहा है। उसमें न तो छायावाद का कुण्ठाजन्य, मनोमय, परोक्षरति, अस्वस्थ प्रेम है और न प्रगतिशील साहित्यकार देव और बिहारी की पंक्ति में बैठकर सामन्तवाद की हिमायत करते हुए नारी के कुचों पर कविता का ताजमहल खड़ा करना चाहते हैं। वे ऐसे घृणित कार्य को प्रेम नहीं मानते। वे

इसके सख्त विरोधी हैं। भारती बतलाएँ कि वे कैसा प्रेम चाहते हैं, लेखक की तरह का?

प्रेम की कोई निश्चित परिभाषा न होने के कारण लेखक उलझन में पड़ गया है। इसलिए उसने हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य को छूने की कृपा नहीं की। येसेनिन का उदाहरण न देकर यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि रूस का कवि बड़ा प्रेमी जीव था। वह आजीवन सामाजिक संघर्ष से विमुख रहा और प्रेम-गीत गाता रहा और अन्त में समाजवादी रूस में भी उसे क्रान्तिकारी कवि मायकोवास्की के समान स्थान मिला। प्रथम तो यही कि किसी कोर्स-बुक के उदाहरण से यह सिद्ध नहीं होता कि रूसी जनता का मानस येसेनिन और मायकोवास्की दोनों के प्रति समान रूप से श्रद्धावान है। परन्तु भारती की बात दूसरी है, जो जन-मानस को समझने का सबसे बड़ा प्रमाण कोर्स-बुक को मानते हैं। खैर, आपने येसेनिन पर कृपा की, अन्यथा' '। येसेनिन रोमांटिक प्रेमी तो रहा है, पर वह वैसा ही जैसे हमारे यहाँ अचल, माथुर और नरेन्द्र आदि हैं। केशवदास की मस्ती का उसमें अभाव था, यह आपने नहीं लिखा।

जिस प्रकार लेखक को प्रगतिशील साहित्य में किसी प्रकार का विशेष प्रेम नहीं दिखायी दिया, उसी प्रकार उसे प्रगतिशील साहित्य में एक विशेष प्रकार का स्थायीपन, पुरानापन तथा शाश्वतता का अभाव दृष्टिगत हुआ।

किन्तु यह देखकर कि आज के युग में न तो सामन्तों की प्रशंसा की जा सकती है, न ऋतुसंहार ही लिखा जा सकता है और न ही नायिकाभेद के रथ में पगडी लगाकर लेखक घूमने को ही तत्पर होगा। लेखक ने पुराने विषय पर लौटना ठीक नहीं समझा। लेखक ने मान लिया कि 'साहित्य का विषय आज का मानव हो।' (हम पूछना चाहते हैं कि क्यों नहीं ऐतिहासिक विषय-वस्तु को स्पर्श किया जावे, क्या लेखक के पास इसका कोई उत्तर है?) परन्तु आज के मानव को साहित्य का विषय बनाते ही लेखक की शाश्वतता (जो वस्तुतः एक उलझन है) पर चोट आती थी। अस्तु, लेखक चट से पैंतरा बदलकर लिखता है—'लेकिन ढंग केवल स्थायी और सामयिक न हो, शाश्वत और चिरन्तन हो।' विचित्र भाषा है। कहना तो चाहिए कि चिरन्तन भाषा लेखक ने लिखी है। लेखक लिखता है—'ढंग केवल अस्थायी न हो।' याने अस्थायी ढंग के साथ भी वह कुछ हो। याने ढंग अस्थायी हो तथा जैसा कि आगे कहा गया है, चिरन्तन भी हो। निश्चय ही प्रत्येक व्यक्ति मान लेगा कि भारती के इस वाक्य का ढंग केवल अस्थायी और सामयिक ही नहीं, शाश्वत और चिरन्तन है। दूसरी बात जो इस वाक्य से प्रकट होती है वह और भी अचरज उत्पन्न करनेवाली है। अभी तक के शाश्वतवादी विषयवस्तु के सामयिक होने पर चिढ़ा करते थे। भारतीजी का शाश्वतवाद इस दृष्टि से पूर्णतः मौलिक है। इसके अनुसार 'ढंग' (रूप या शैली)

भी दो भेद होते हैं। (१) सामयिक और (२) शाश्वत या चिरन्तन। शैली का रन्तन स्वरूप कैसा होता है ? यह लेखक ने नहीं बताया। हाँ, यदि पाठक चाहे ढूँढ सकते हैं। लेखक प्राचीन, शाश्वत और क्लासिकल को इस प्रकार गुड-वर बनाकर प्रस्तुत करता है कि तीनों परस्पर पर्यायवाची प्रतीत होने लगते । यह करिश्मा भी देखिए —

'वे (सोवियत साहित्यकार) साहित्य के प्राचीन रूपों की ओर इतना अधिक क गये हैं कि बोलिट्ज की वर्तमान रूसी साहित्य को Classical Realist या श्वत यथार्थवादी' कहकर पुकारता है।'

'लेकिन आज २०-३० वर्ष के प्रयोग के बाद रूस फिर पुराने शाश्वत साहित्य ओर लौट आया है।'

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन, शाश्वत, क्लासिकल आदि शब्दों के विषय में खक का दृष्टिकोण उलझन में भरा हुआ है। आलोचना के क्षेत्र में प्रचलित ब्दों को आलोचना में जोड़ने का मोह भी तो बड़ी चीज है।

इस अध्याय में लेखक ने दो बातों पर जोर दिया है—(१) साहित्य में रानापना, स्थायीपन तथा शाश्वतता होनी चाहिए। (२) साहित्य वर्गनिरपेक्ष ना चाहिए।

जहाँ तक पुरानेपन का सवाल है, आपका साहित्य में पुरानापन लाने का ोई अर्थ नहीं होता। हाँ, वैसे रूढ़ि तथा परम्परा के रूप में प्राप्त हमारे साहित्य ी सांस्कृतिक विशेषताएँ नयी पीढ़ी को भूमि के शाश्य रूप में मिलेंगी ही। परन्तु ारती का आग्रह विशेष प्रकार का है। रूस के एक इंजीनियर का (कवि का ही) मत उद्धृत कर उन्होंने प्राचीन शैलियों की ओर लौट चलने की बात को ोहराया है। यह उद्धरण इस प्रकार है—'कास्ट्रक्टिविज्म भद्दी और बुरी शैली ै। कांस्ट्रक्टिविज्म यानी इमारतों की शैली हम लोगों को अब पुरानी और ुन्दर शैलियों की ओर लौट आना चाहिए।'

भारती इस प्रकार दबी जबान से क्यों कहते हैं। जो कुछ कहना चाहते हैं ुलकर कहें, एकदम निडरतापूर्वक। वे हिन्दी के लेखकों को किस पुरानी शैली ी ओर ले जाना चाहते हैं ? छायावाद की अस्पष्ट और मनोमय शैली की ओर या द्विवेदी कालीन इतिवृत्तात्मकता की ओर (अथवा इन्हें भी आधुनिक मान-कर) रीतिकाल की बाग्मामा लिखने वाली मगभाट, केशवदास अथवा पृथ्वी-राज रासो की शैली की ओर ? निश्चय ही यह एक बहकी हुई बात है, जिसका कोई सात्त्विक आधार नहीं।

अपने प्राचीन साहित्य का प्रगतिशील साहित्यकार बड़ा ही आदर करते हैं। किन्तु भारती का कथन है कि वे (प्रगतिशील लेखक) प्राचीन साहित्य के उपेक्षक हैं। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि भारत में अमेरिकन डालर असर दिखा रहा है।

लेखक ने किया है ?

इसी प्रकार लेखक ने व्यक्ति के मूल्य की आवाज उठाई है। समाजवाद (जिसका कि प्रगतिवादी हामी है) में व्यक्ति की हत्या हो जाती है, यह कह कर समाजवाद के दुश्मनों ने प्रचार का रास्ता बना लिया है। ठीक इसी नारे को लागू करने के लिए लेखक ने एक पूरा चेप्टर लिखा है। इस अध्याय में लेखक के चरम व्यक्तिवाद की अभिव्यंजना हुई है। लेखक के चिन्तन की प्रणाली वही घिसी-घिसाई आदर्शवादी ढंग की है, विश्व की परिस्थितियों को बदलने का ढंग भी विनोबापंथी सर्वोदयी है।

"सिर्फ बना लेना, देवमूर्ति की प्रतिष्ठा कर देना काफी नहीं होता, उससे भी अधिक होता है मन में पूजा-भाव जाग्रत करना। केवल मन्दिर के प्रांगण में खड़े होने से कोई पुजारी नहीं हो जाता। मार्क्सवाद मानव की चिरन्तन साधना के इस पहलू का महत्त्व नहीं पहचान पाता और यही उसकी एकांगिता है।"

इस अध्याय में हमारे सामने लेखक का चेहरा पूर्णतया बेनकाब होकर आ जाता है। दर्शन में ठग-विद्या मिलाने की जो करामात (मार्क्सवाद से फ्रायडपथ) हिन्दी आलोचना में इलाचन्द जोशी, राजनीति में जयप्रकाश (समाजवाद से *सर्वोदय*) कर रहे हैं। *वही करने का बीड़ा भारतीजी ने उठाया है। और वह है* समाजवाद में अध्यात्म का समावेश। देखिए —

"मैं यह नहीं कहता कि मनुष्य की आत्मा में जागने वाला यह स्वप्न परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता, अवश्य होता है, परन्तु फिर भी मानव के अन्तर्जगत में कोई ऐसी शक्ति है जो बार-बार उसे परिस्थितियों पर विजय दिलाती रहती है, कोई ऐसा कृष्ण है जो अर्जुन के रथ को महाभारत में सचालित करता रहता है। अपने मन की उस परम शक्ति को पहचान कर ही आदमी हर युग में नया निर्माण कर सकता है। उसके बिना मार्क्स का बाह्य निर्माण अधूरा है।"

ऐसा लगता है कि हीगल का प्रेत भारती बनकर बोल रहा है। और यदि भारतीजी की इस श्रेष्ठ कलाकृति को शुद्ध आन्तरिक निर्माण मान लिया जाय तो सहज ही प्रश्न उठता है कि वह कृष्ण कौन है जो भारती के रथ को साहित्य के महाभारत में सचालित कर रहा है ? शिवदान या अज्ञेय ?

शुद्ध अध्यात्म का यह नमूना देखिये कि—'हर युग का महानतम साहित्य' किस प्रकार पलक मारते ही अध्यात्मवादी हो गया—

"और यहीं हमें समस्या का भारतीय समाधान मिल जाता है। वह शक्ति जो हमारे मनोविज्ञान को सतुलित कर उच्चतर बाह्य निर्माण की ओर प्रेरित करती है, वह है अध्यात्म। हर युग, हर देश का महानतम साहित्य अध्यात्मवादी रहा है।"

और शायद इसीलिए लेखक की दृष्टि में गोर्की, मायकोवास्की, प्रेमचन्द सभी

अध्यात्मवादी थे। उसे केवल इसी से सन्तोष नहीं हुआ और लेखक ने प्रगतिवादियों को धर्मानुयायी बनने की सलाह दी, क्योंकि उसके बिना सच्ची प्रगति असम्भव है। एक पूरा चेप्टर इस विषय पर भी लिखा गया है। कुछ वाक्य देखिये—

"धर्म की बहिष्कृति से निश्चित रूप से यह ध्वनि निकलती है कि धर्म के साथ की सभी ऊँची मानव-जीवन की उच्चता में विश्वास, आन्तरिक सौन्दर्य, नैतिक मर्यादा, पवित्रता इन सभी चीजों का बहिष्कार कर दिया होगा।" (पृष्ठ १४६)

"लड़ने के लिए, दुनिया को बदलने के लिए, नये युग की स्थापना करने के लिए धर्म ने हमेशा धार्मिक प्रतीकों से आदमी को बल दिया है। अपने वास्तविक अर्थ में धर्म सदैव प्रगतिशील रहा है।" (पृष्ठ १५०)

इस चेप्टर में लेखक ने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि धर्म और मजहब अलग-अलग चीजें हैं। धर्म सदा प्रगतिशील रहा है और मजहब प्रतिक्रियावादी। रूस में मजहब का विरोध हुआ, धर्म का नहीं। वस्तुतः मजहब और धर्म कोई परस्पर विरोधी चीजें नहीं हैं। जिस प्रकार आप कहते हैं कि धर्म तो सदा ही प्रगतिशील रहा है—उसी प्रकार एक शायर ने कहा है—'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर करना।' किन्तु मजहब के ही अनुयायियों की खूरेंजी से सारे मध्ययुग का इतिहास चीख रहा है। मजहब उर्दू शब्द है और धर्म हिन्दी और साथ ही वह लेखक के नाम से जुड़ा है। क्या इसीलिए लेखक ने अच्छाइयों का समावेश धर्म में कर दिया और बुराइयों का मजहब में? जो अर्थ एक हिन्दी भाषी के लिए 'धर्म' में निहित है, वही अर्थ उर्दू भाषी के लिए 'मजहब' में। फिर धर्म सदैव प्रगतिशील रहा और मजहब प्रतिक्रियावादी, यह कहना क्या अर्थ रखता है? धर्म और मजहब के विभाजन का क्या आधार है? वस्तुतः यह विभाजन पूर्णतः अवैज्ञानिक है।

यह तो हुआ लेखक द्वारा लगाये गये आरोपों तथा स्थापित मान्यताओं का विवेचन। अब यह विचार करना है कि पुस्तक जिस ध्येय को लेकर लिखी गयी है, जो नाम उसे दिया गया है, उसमें वह कहाँ तक सफल होती है?

आज प्रगतिवादी धारा साहित्य की एक जीवन्त-धारा के रूप में वर्तमान है। उसकी अपनी साहित्यिक मान्यताएँ हैं और उसके अनुकूल उसने साहित्य की नयी विधाओं को जन्म दिया है। काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध और आलोचना के अतिरिक्त स्केच और रिपोर्ताज लिखने की कला का प्रवर्तन प्रगतिवादी धारा के अन्तर्गत ही हुआ। एक पाठक के नाते हम भारती से अपेक्षा करते थे कि वे प्रगतिशील साहित्य की धारा के हिन्दी में हुए उद्गम तथा विकास को बतलाते। उसमें मुखरित हुई प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते। समकालिक की अन्य साहित्यिक धाराओं के बीच उसे रखकर मूल्यांकन करते और फिर अपने निष्कर्ष

निकालते। प्रगतिवाद के सैद्धान्तिक पक्ष की व्याख्या, प्रगति के स्वरूप का विवेचन एवं प्रगतिवादी आलोचना तथा साहित्य के साथ जो मौलिक समस्याएँ हैं उनका विश्लेषण करते तथा जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में नये ढंग से विचार उपस्थित करते।

किन्तु क्या यह सब लेखक ने किया है ?

हम अपेक्षा करते थे कि यदि प्रगतिवाद की सैद्धान्तिक समीक्षा भारती नहीं कर सकते थे तो कम-से-कम उसकी व्याख्यात्मक आलोचना से तो अपने पाठक को वंचित न करते ? प्रगतिशील कवियों की रचनाओं का परिचय, विश्लेषण तथा विवेचन होना चाहिए था। इसी प्रकार उपन्यास लेखकों, कहानीकारों आदि की रचनाओं का भी विवेचन करके उनकी श्रेष्ठता या निकृष्टता का निर्णय करना चाहिए था।

सारी पुस्तक को पूरी पढ़ जाने पर मालूम होगा कि श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' तथा श्री नरेन्द्र शर्मा पर लेखक ने केवल एक-एक पंक्ति लिखी है—यशपाल, राहुल, पहाड़ी आदि का सिर्फ एक एक बार नाम लिया गया है—निराला, पन्त, केदार, शील, शंकर शैलेन्द्र, दिनकर, शमशेर आदि के तो नाम भी पुस्तक में नहीं हैं।

फिर भी यह पुस्तक प्रगतिवाद पर एक पुस्तकाकार विवेचन है।

जिन शीर्षकों के अन्तर्गत लेखक ने पुस्तक लिखी है, उन्हीं के अन्तर्गत यदि लेखक चाहता तो भारतीय प्रगतिशील साहित्य का विवेचन कर सकता था।

किन्तु क्या यह सब लेखक ने किया है ?

इस सबका उत्तर केवल यह है कि मोह-ग्रस्त मन से कोई बड़े काम नहीं हो सकते।

दो शब्द यहाँ लेखक की आलोचना शैली के बारे में कहना भी असंगत न होगा, क्योंकि शैली का भी अपना महत्त्व होता है और उसी के आधार पर लेखक की अभिरुचि को पहचाना जाता है। आलोचक का कार्य निस्संदेह बड़ा ही गम्भीर होता है, परन्तु खेद है कि लेखक इस अपेक्षित गम्भीरता को पास भी नहीं फटकने देता। आलोचना होनी चाहिए, किन्तु स्वस्थ एवं संयत शैली में। वैयक्तिक राग-द्वेष तथा गाली-गलौज करने से साहित्य का विकास नहीं होता। लेकिन किया क्या जाय, भारती की इस श्रेष्ठकलाकृति की तो प्राण-चेतना ही यह गाली-गलौज है। कुछ नमूने देखिये—

(१) *'आखिर प्रेमचन्द ने भी तो अवध का चित्रण किया था ? आखिर* शरत ने भी तो बंगाल का चित्रण किया था, लेकिन हरी दूब हटाकर कीचड़ में मुँह डुबोने और नाबदान में पैर डुबोने का शौक नागार्जुन की तरह किसी को नहीं था।'

इस प्रकार की वैयक्तिक राग-द्वेष की भावनाओं को व्यक्त करने से आपका क्या तात्पर्य है ? आप सीधे-सादे नागार्जुन पर क्यों पिल पड़े ? नागार्जुन को यदि कीर्ति प्राप्त हुई है तो आपको उससे द्वेष की क्या आवश्यकता है ? दूसरे के कीर्तिस्तम्भ पर आप अपना यशस्तम्भ क्यों खड़ा करना चाहते हैं ? नागार्जुन के काव्य में जीवट है, एक ताकत है और इसीलिए आज का हिन्दी समाज उसे नयी हिन्दी कविता का वैतालिक मानता है। आधुनिक हिन्दी कविता के इस भारतेन्दु के प्रति आपने जिन शब्दों का प्रयोग किया है, वह आपकी असंस्कृत रुचि का परिचायक है।

लेखक ने इस पुस्तक में हजारों जगह क्षमात्मकता का मारा दिया है। लेखक की कला को तो हम उसकी दूसरी कृतियों में ही देखेंगे, यहाँ केवल यह देख लें कि भाषा और शैली के प्रति लेखक का क्या रुख है। आठ-आठ और दस-दस पंक्तियों के वाक्य जिनमें जगह-जगह शिथिलता आ गयी है तथा भद्दे जोड़ लगे हैं, आपको प्रत्येक स्थान पर मिल जायेंगे। कई जगह तो एक पैराग्राफ में सिर्फ एक ही वाक्य है, और वह भी ऊपर के पैराग्राफ के विचारों को लेकर ही आगे बढ़ा है। उदाहरण के लिए पृष्ठ ७२ का तीसरा पैराग्राफ अथवा पृष्ठ ७१ का दूसरा पैराग्राफ लिया जा सकता है, जो अपने निर्माण के आधार-स्वरूप किसी नये विचार की शुरुआत नहीं करता। इस प्रकार अनेकों पैराग्राफ मिल सकते हैं।

इसी प्रकार व्याकरण के प्रति भी लेखक की लापरवाही प्रतीत होती है। यह भी हो सकता है कि परम प्रयोगी श्री धर्मवीर भारती हिन्दी के असमझदार पाठकों को अपने प्रयोगों से चमत्कृत करना चाहते हों। आत्मा स्त्री-लिंग है या पुलिंग ? देखिये—

'दुनिया की महान् सस्कृतियाँ वह प्रयोग है—जो मानव जाति के सामूहिक आत्मा ने सत्य की खोज में किये थे।(पृष्ठ २२७)।

× × ×

'मैं यह नहीं कहता कि मनुष्य की आत्मा में जागने वाला यह स्वप्न परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता ···।' (पृष्ठ १४३)

एक बानगी और लीजिये—

'बच्चन, भगवतीचरण और अंचल में इस अपार्थिकता के प्रति थोड़ा बहुत विद्रोह था, उसे लेकर प्रगतिवाद की नयी पीढ़ी यौन-प्रवृत्ति की उच्छृंखलता की अभिव्यक्ति में जुट गयी।'

हिन्दी के असमझदार लेखकों के व्याकरण के अनुसार 'उच्छृंखला' का प्रयोग गलत है। 'उच्छृंखला' शब्द अपना कोई नया प्रयोगवादी अर्थ भले ही रखता हो, परन्तु हिन्दी में उच्छृंखलता के पर्याय के रूप में तो प्रयुक्त नहीं होता। इसी प्रकार मैं देखिये भारतीजी ने संज्ञा और विशेषण में बीच में किस बारीकी से रेखा खींची है—

हास्य । एक विश्लेषण

भारतीय साहित्य पर पाश्चात्य समीक्षकों का यह प्रमुख आरोप है कि वह आत्मा की खोज मे अत्यधिक आदर्शवादी रहा है। इस आत्मा की खोज मे उसने काव्य की आत्मा भी खोज निकाली है और उसे 'रस' की सज्ञा मे अभिहित किया है। रसों मे भी उसने शृगार को जो सर्वाधिक व्यक्तिपरक था, रसराज घोषित किया। एक सीमा तक यह आक्षेप अपनी सार्थकता एव उपादेयता अवश्य रखता है। उसे हम इस रूप में देख सकते हैं कि जब भी भारतीय कविता की धारा 'रसराज' की सीमा में बँध 'रति' की परिधि मे केन्द्रित हुई उसका जीवन से सम्बन्ध टूट गया। वह बँधी हुई नालियो मे बहने लगी। हिन्दी का रीति युग इसका मुखर साक्षी है।

'हास' शृगार का सचारी भाव रहकर 'रति' का सहायक भाव अवश्य रहा है। किन्तु रति के विपरीत 'हास' की भावना अधिकाधिक वस्तुपरक एव समष्टि-निष्ठ है। किन्तु जीवन के आदर्शोन्मुख चित्र उपस्थित करने की धुन मे भारतीय साहित्य मे 'हास' की भावना प्राय. उपेक्षित हो रही। 'हास' के अभाव का दूसरा कारण यह भी है कि हास्य की भावना और गम्भीरता का सहज ही विरोध है और भारतवर्ष ठहरा गम्भीर दार्शनिकों का देश। तीसरा कारण सास्कृतिक है। हमारी सस्कृति का मूलाधार ही दया और सहानुभूति की भावना है, जो आलम्बन के हास्योद्रेक मे सक्षम होने पर भी उससे करुणा की ही सृष्टि करती रही। भारतीय साहित्य मे हास्य के अभाव के ये ही कुछ कारण हैं। अस्तु, लक्षण ग्रन्थो मे हास्य के अत्यन्त अल्प विवेचन का कारण भी लक्ष्य ग्रन्थो मे हास्य-साहित्य का अभाव ही है।

हास्य की विवेचना के पूर्व उसके सम्बन्ध मे शास्त्रीय दृष्टिकोण को जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। जीवन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और क्रमश. विकसित होता चला जा रहा है। मनुष्य का भाव-जगत वस्तु-जगत का ही प्रतिरूप है। दूसरे शब्दो मे मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व पर ही निर्भर है। अस्तु, ज्यों-ज्यो जीवन मे विविधता का विस्तार हुआ, उसके अनुरूप साहित्य के

क्षण दे देने से उक्त विषय वैज्ञानिकता से बहुत दूर रह गया है। यद्यपि यह ठीक है कि साहित्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो का ही प्रतिपादन हो तथापि विषय के स्पष्टीकरण के लिए प्रतिपादन की शैली को अवश्य ही वह मार्ग अपनाना पड़ता है। स्वय इलियट इसी धुन के कारण एक-दूसरे अतिवाद पर पहुँच गये थे।

पाश्चात्य देशो की स्थिति इससे भिन्न है। पाश्चात्य विद्वानो ने मनोविज्ञान का सहारा लेकर हास्य के मूल कारणो की पर्याप्त खोज की है। इस कारण हास्य के उद्रेक के विषय मे पश्चिम मे कई सिद्धान्तो ने जन्म लिया है। इन सिद्धान्तो मे प्रमुख केवल दो ही तीन हैं।

मनोविज्ञान के उदय के साथ ही हाब्स ने अपने 'अनायास उत्कर्ष' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसके कारण हास्य का कारण उस उल्लास को बताया गया है जो अपने उत्कर्ष को पूर्व की दुर्बलताओ से मिलाने पर होता है।

"The passion of Laughter is nothing else but sudden glory arising from sudden conception of some eminency in ourselves by comparing with the infirmity of other or with our own formerly"

अपने मे अनायास किसी उत्कर्ष को देखकर उसे पूर्व की दुर्बलताओ की समता मे रखकर जो उत्कर्ष-व्यजक उल्लास होता है, वही हास्य का कारण है। कुछ दिन पूर्व तक अवश्य साहित्यालोचक इसे आशिक सत्य के रूप मे स्वीकार करते रहे, किन्तु आज के साहित्य का सम्पर्क उस मनोविज्ञान से है, जो १७वी सदी के मनोविज्ञान से कही अधिक विकसित है। आज का मनोवैज्ञानिक स्पष्ट ही तर्क कर सकता है। 'उत्कर्ष-व्यजक उल्लास से गर्व की सृष्टि हो सकती है, हास्य की नहीं। और गर्व तथा हास्य परस्पर विरोधी भाव हैं। किसी गर्वीले जमीदार को स्वय की कमजोरियो पर हँसते हुए शायद ही किसी ने देखा हो।'

दूसरा सिद्धान्त स्पेन्सर का असगति के निरीक्षण का है जिसके अनुसार हमारी चेतना का बड़ी वस्तु से छोटी वस्तु की ओर जाना ही हास्य का मूल कारण [illegible] उत्कर्ष से अपकर्ष की

३. यान्त्रिक क्रिया ।

इसके अतिरिक्त हास्य के सम्बन्ध में विपर्यय के सिद्धान्त का भी अपना महत्त्व है, जिसके अनुसार परस्पर-विरोधी तथा विपरीत स्थितियाँ हास्य का कारण होती हैं। जब चोर के घर में सेंध लगती है तो लोग हँसे बिना नहीं रहते। विपर्यय के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी बर्गसन ने ही किया। बर्गसन द्वारा दिये गये कारणों पर विचार करने पर प्रतीत होगा कि बर्गसन बहुत कुछ सत्य के निकट तक पहुँच सके हैं। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि हास्य की भावना समष्टिनिष्ट है। अस्तु, हास्य के आलम्बन के लिए यह एक विशेष शर्त है कि वह समाजप्रिय न हो। यदि आलम्बन को समाज का प्रेम प्राप्त हुआ तो अनेकों असंगतियों के बावजूद भी वह हमारे हास्य की सृष्टि करने में असमर्थ होगा। उदाहरण के लिए जायसी काने तथा बहरे थे। एक बार एक राजा उन्हें देखकर ठहाका मारकर हँसा, जायसी ने तुरन्त ही अपने ज्ञान तथा कुशलता से उत्तर दिया—'मोहि हँसहि कि कोहरहि।' यह सुनकर राजा अत्यन्त लज्जित हुआ तथा अपने अपराध की क्षमा माँगने लगा। कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि समाजप्रिय व्यक्ति विविध असंगतियों के बावजूद भी हास्य का आलम्बन नहीं बन सकता, बर्गसन ने इस सत्य को पहचाना था। बर्गसन ने दूसरा कारण दिया है आलम्बन का अचेतन होना। हास्य की सृष्टि उस समय भी होती है जब कोई व्यक्ति उसी सम्बन्ध रखनेवाली घटना के प्रति अचेतन और अनभिज्ञ रहता है। उदाहरण के लिए कालेज के विद्यार्थी जब अगली बेंच वाले लड़के की पीठ पर "मैं गधा हूँ, लिख कर कागज चिपका देते हैं और वह विद्यार्थी इसे बिना जाने स्वच्छन्द रूप से सर्वत्र घूमा करता है तो हँसी के फव्वारे छूटने लगते हैं। बर्गसन ने तीसरा कारण यान्त्रिक क्रिया को बताया है। यह यान्त्रिक क्रिया वाणीगत भी हो सकती है और शारीरिक भी। जब व्यक्ति अपने 'तकिया कलाम' शब्द का प्रयोग करने लगता है तो यही यान्त्रिक क्रिया हमारे हास्य का कारण होती है। इसी प्रकार दर्शन के प्रोफेसर सा जब विवाह-शादी के अवसर पर भी मास्य और अद्वैत का भाषण देने लगते हैं तो बरबस हास्य का उद्रेक हो ही जाता है। इस प्रकार से उत्पन्न होने वाले हास्य का मूल कारण प्रो० सा के जीवन का यन्त्रवत् होना ही है। ये व्यक्ति जीवन के एक ही क्षेत्र में घिसते-घिसते मशीन की तरह जड़ हो गये हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्तों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से कोई भी सिद्धान्त पूर्ण नहीं है। वरन् जिस सिद्धान्त ने भी पूर्णता का दावा किया तो वह भी शीघ्र ही हास्य का आलम्बन बनने की क्षमता प्राप्त कर सकता है। क्योंकि बर्गसन के अनुसार हास्य एक ऐसी मानवीय वृत्ति है जिसकी सम्पूर्ण मानव जीवन में गति है। अतः जीवन के विकास के साथ ही हास्य के आलम्बनों

दोनें रासमनोज्ञ परम्परा" कथन कितना उपयुक्त लगता है। शब्दावली, वेश-भूषा और क्रिया-कलाप के अन्तर्गत इन पाँचों रूपों का समाहार हो सकता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से भारतीय दृष्टिकोण को हीन कहना असंगत है। किन्तु द्वैत और अद्वैत देखनेवाली प्रखर भारतीय दृष्टि हास्य के लिए आवश्यक द्वैत की भावना को मूलतः खो चुकी थी। यह शुभ लक्षण है कि हमारा आज का साहित्य उतना ही आत्मगत नहीं है, उसमें हास्य का पर्याप्त विकास हो रहा है।

हास्य के भेद

आत्माभिव्यक्ति की समस्या मानव जीवन के प्रारम्भ से चली आ रही है, किन्तु इस समस्या से जुड़ी हुई एक समस्या और है वह है परबोध की। इसी परबोध की समस्या के कारण मनुष्य अभिव्यक्ति के एक साधन मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो पाता और फलतः उसे अभिव्यंजना के नए-नए प्रकारों से जूझना पड़ता है। आत्म के समाजीकरण के लिये यह आवश्यक भी है। अपनी बात को अधिकाधिक मार्मिकता तथा प्रभविष्णुता प्रदान करने के लिए लेखक प्रक्रिया के विभिन्न प्रकारों की खोज निकालता है। मूल भावना चाहे एक ही हो, किन्तु दृष्टिकोण का अन्तर ही कलागत भेद का मूल कारण है।

हास्य की भावना भी मूल रूप में एक ही है किन्तु दृष्टिकोण के भेद से ही हम उसे पहचान सकते हैं। उदाहरण के लिए एक नवयुवती की मुस्कान तथा एक दार्शनिक की हँसी की तुलना करें तो प्रतीत होगा कि युवती की मुस्कान में जहाँ कुछ सकोच की मिश्रित छाप रहती है, वहाँ दार्शनिक की मुस्कान निर्वेद की मनोभावना से पूर्ण रहती है। किसी नराधिप की विजय दर्प मिश्रित हँसी तथा शिशु की स्वाभाविक हँसी में कितना विराट अन्तर है। इन दोनों प्रकार की हँसी की प्रेरक शक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

पश्चिम में भी हास्य के भेद किये गये हैं—वे इन्हीं प्रेरक शक्तियों के आधार पर किये गये हैं। किन्तु भारतीय साहित्य में हास्य के जो विभाग किये गये हैं। वे अत्यन्त स्थूल तथा शारीरिक आधार पर किये गये हैं। प्रेरक मनोवृत्तियों के अनुरूप हास्य की भावना का विश्लेषण हमारे साहित्य में नहीं किया गया। अतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में विदूषक ही हास्य का आलम्बन रहा और वह भी किन्हीं आन्तरिक अन्तर्विरोधों के कारण नहीं वरन् गंजे सिर, विकृत वेषभूषा, भोजनभट्ट होने आदि के कारण। इसी कारण हास्य की भावना एक बौद्धिक धरातल पर खड़ी न हो सकी। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि भारतीय साहित्य में उच्च हास्य-रस बिलकुल नहीं है। पर हाँ, दिखायी देता है उनका केवल स्थूल रूप ही। पश्चिम में जो हास्य का विभाजन हुआ है वह गुण, उद्देश्य तथा उपकरण पर आधारित है, जबकि हमारे यहाँ के विभाजन का आधार शारीरिक

उत्तमानाम् मध्यमानाम् नीचानामप्य सौमवेत् ।
आस्य वंचितस्तस्य षट्भेदा. सन्ति षापरा. ॥'

दशरूपककार द्वारा विभाजित छ भेद तथा उनका पात्रानुरूप विभाजन पण्डितराज ने पूर्णतया अपरिवर्तित रूप मे स्वीकार कर लिया।

हमारे साहित्य मे रस का विवेचन अभिनय की दृष्टि से किया गया है। हास्य के विभाजन का जो आधार हम शारीरिक पाते हैं उसका मूल कारण नाट्य-शास्त्र के नियम ही हैं, जिनमे अभिनय को सदैव ही प्रमुखता दी जाती है। सक्षेप मे हास्य, रस के भेदो का यह भारतीय विवेचन है जिसका आधार शारीरिक है। आगे गुण, उद्देश्य तथा उपकरण के आधार पर विभाजित पाश्चात्य सिद्धान्तो पर एक सक्षिप्त दृष्टि डाल ली जावे।

पश्चिम के विवेचन का आधार अभिनय नही है और न हास्य का विवेचन ही नाट्यशास्त्र के नियमों पर किया गया है। विशिष्ट प्रेरक शक्तियों के कारण हास्य के दो रूपों में जैसा कि पहले कहा गया एक विराट अन्तर उत्पन्न हो जाता है। और इसी आधार पर यह विभाजन किया गया है। उदाहरण के लिए जिस हास्य का सम्बन्ध चरित्र, कार्य व घटना से होता है वह अपनी विशेषताओं के कारण उपहास अथवा वाग्वैदग्ध्य से साधारणतया पृथक् दिखाई देता है। इस दृष्टि से हास्य के चार भेद किये गये हैं—

१ हास्य
२. उपहास
३ भ्रान्त
४ वाग्वैदग्ध्य

हास्य—हास्य मे आलम्बन के प्रति सहानुभूति का एक सूक्ष्म तार रहता है। इसीलिये यह व्यग्य के एक प्रकार का न होकर उदारता का प्रदर्शन करता है। हँसने वाले के मन मे प्रहसनीय के प्रति सहानुभूति की जो धारा बहती है वह मन से उसके सुधार की भावना रखती है, किन्तु सुधार की इस भावना का रूप सदैव ही मनोमय तथा गौण रहता है जिसे हँसने वाला स्वयं भी नही पहचान पाता। हास्य की आवश्यकता पर विचार करते हुए जॉर्ज मेरिडिथ ने लिखा है—

"If you laugh all round him, trouble him, roll him about, deal him a smakle and drop a tear on him, own his likeness to you and yours to your neighbour, spare him as like as you shun, pity him as much as you expose, it is spirit of humour that is moving you···

The stroke of the great humourist is world wide with lights of tragedy in his laughter."

उद्धरण का अन्तिम अंश महत्त्वपूर्ण तथा विचारणीय है। भारतीय शास्त्रकारों ने रस मैत्री के प्रकरण का विवेचन करते हुए करुण रस को हास्य रस का शत्रु बतलाया है, जबकि हास्य की भावना में जॉर्ज मेरिडिथ करुणा की सत्ता पाते हैं। साहित्यदर्पणकार का कथन है—

आद्य: करुण बीभत्सरौद्र वीर भयानकै:
भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक्।

इसके अनुसार करुण रस के साथ हास्य का प्रयोग पूर्ण रूप से असफल तथा निर्जीव होगा। एक अन्य स्थल पर जॉर्ज मेरिडिथ कहते हैं—

"You may estimate your capacity for comic perception by being able to detect the ridicule of them you love without being loving them less"

हँसने के लिए प्रेम को कम करना पड़ता हो ऐसा तो मनोविज्ञान कभी नहीं कहता। हास्य की मनोवृत्ति सामाजिकता तथा प्रेम-भावना लिये हुये है। फिर प्रेम पात्र से हँसने पर कम हो और वही हास्य शक्ति का मापक हो, यह कदापि सगत नहीं लगता। फिर शरीर वैज्ञानिक तो हास्य को बढ़ती हुई प्रेम की शक्ति का ही परिवर्तित रूप मानते हैं।

भ्रान्त—भ्रान्त में खास तौर पर ऐसे पुरुषों का मजाक उड़ाया जाता है जो समाज विरोधी हैं। हास्य के विपरीत भ्रान्त में हास्यास्पद पात्र को अपने हास्यास्पद होने का ज्ञान न होना चाहिए। ए० नकाल ने इस विषय में लिखा है—

"The absurd on the other hand is purely unconscious We laugh at 'e' etourdi but he himself is quite innocent of the sense of our merriment. The absurd character puts all his follies unconsiciously to the world."

भ्रान्त का प्रयोग लेखक प्राय तीन प्रकार से करते हैं। वस्तु का अतिरञ्जित चित्रण करके कल्पना के पंख लगाकर वस्तु को यथार्थ से दूर करने पर। इस प्रकार भ्रान्त का प्रथम प्रयोग होता है। १ अत्युक्ति के कारण। २. रूप के परिवर्तन द्वारा। ३. वस्तु का आकार अत्यन्त विकृत कर उपस्थित किया जाता है। हिन्दी में जी० पी० श्रीवास्तव, बद्रीनाथ भट्ट, सोच, तथा बेढबजी ने इसके अच्छे प्रयोग किये हैं।

उपहास—उपहास की भावना हास्य के ठीक विपरीत है। पहले कहा जा चुका है कि हास्य में हँसने वाले के मन में सहानुभूति की अन्तर्धारा प्रवाहित रहती है किन्तु उपहास में घृणा आदि सहानुभूति विरोधी भावों का प्राबल्य रहता है। — — [illegible] हँसी उत्पन्न करके मनोरंजन करना मात्र रहता है उपहास

समाज वरोधी व्यक्ति को हास्यास्पद

बनाकर मनोरजन करते हैं, उपहास मे समाज तथा उसकी रूढी रीतियाँ हमारे उपहास का आधार बनती हैं। समाज की दुर्बलताओ पर लेखक इसके माध्यम में तीखा, मार्मिक और कटु प्रहार करता है कि पाठक तिलमिला उठता है।

वाग्वैदग्ध्य—वस्तुत वैदग्ध्य न तो हास्य का कोई प्रकार विशेष है और न गुण ही। इसकी अपनी शैली पूर्णत हास्य से पृथक् है। साथ ही इसकी हास्योत्पादन की शक्ति भी हास्य के किसी अन्य भेद से पृथक् है। वैदग्ध्य के विषय मे यह अत्यन्त विवादपूर्ण है कि वैदग्ध्य की सत्ता आलम्बन मे है या आश्रय मे। अभी तक विद्वान लोग इस पर एकमत नही हो पा रहे हैं। वैदग्ध्य का उपयोग शब्द और अर्थ दोनो से ही होता है। अत अलकार की तरह इसमे भी शब्द-वैदग्ध्य और अर्थ-वैदग्ध्य ये दो भेद किये जा सकते हैं।

दूसरा सप्तक

"दूसरा सप्तक" के नाम से श्री अज्ञेय के सम्पादन मे एक नई काव्य-पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमे सात कवियो की कुछ रचनायें संग्रहीत हैं। 'दूसरा सप्तक' नाम एक परम्परा का द्योतक है और 'तार सप्तक' की ओर संकेत करता है। सन् १९४३ ई० मे अज्ञेय ने 'तार सप्तक' का सम्पादन किया था और स्वय के सहित कुल सात कवियो की रचनायें सग्रहीत थी। हिन्दी मे 'प्रयोगवाद' नाम की काव्य धारा का प्रवर्तन इसी सप्तक से माना जाता है।

'प्रयोगवाद' के किवा व्यावहारिक स्वरूप पर आलोचना करना इस समय हमारा ध्येय नही है। यहाँ तो दूसरे सप्तक मे सग्रहीत कवियो की काव्यगत समीक्षा ही इष्ट है।

दूसरे-सप्तक मे जो सात कवि संग्रहीत किये गये हैं, वे प्राय सभी स्फुट रूप से लिखते रहे है। परन्तु पृथक् रूप से सग्रह किसी का भी प्रकाशित नही हुआ है और न ही कविवर नागार्जुन की तरह वे हिन्दी भाषी जनता मे लोक-प्रियता प्राप्त ही हैं। सात प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारो को हिन्दी ससार के सम्मुख लाने के नाते अज्ञेयजी का प्रयत्न निश्चय ही स्तुत्य है।

ये सात संग्रहीत कवि क्रम से इस प्रकार हैं—भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती। इनमे शकुन्तला माथुर हिन्दी ससार की बिलकुल नव परिचित हैं और शेष कवियो को 'हंस', 'प्रतीक', 'नया साहित्य' के पाठक न जानते हो सो बात नही।

सकलन का स्वरूप तो सप्तक की ही तरह का है। पहिले लेखक का परिचय फिर उसका वक्तव्य तथा बाद मे रचनायें। किन्तु कुछ ऐसा लगा कि परिचय और वक्तव्य दोनों मे प्रथम सप्तक की सी प्राणवानता नहीं है। परिचय में वैयक्तिकता की उस मीठी छाप का अभाव सा ही है जो प्रथम सप्तक में थी और वक्तव्य तो कवियों ने असगत ढंग से दिये हैं। प्रथम सप्तक के कवियों के वक्तव्य

में एक विशेष प्रकार की सजीवता, स्पष्टता, प्रासंगिकता, निजीपन तथा चिन्तन की छाप थी। पर 'दूसरे सप्तक' के अधिकांश वक्तव्य अप्रासंगिक बातों से युक्त तथा अन्विति-विहीन हैं। पहिले सप्तक में रामविलास, अज्ञेय, माचवे, गिरिजा कुमार, नेमिचन्द्र गोया सभी के वक्तव्य काव्यगत दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण थे। अज्ञेय का वक्तव्य भाव-प्रेषण की समस्या की दृष्टि से तो डॉ० रामविलास का वक्तव्य 'काव्यगत भदेसपन' की दृष्टि से। इसी प्रकार गिरिजा कुमार ने अपने उस ध्वनि सिद्धान्त की रूपरेखा वक्तव्य में प्रस्तुत की थी, जिस पर आगे चलकर उन्होंने 'प्रतीक' में एक विस्तृताकार लेख लिखा था। प्रथम सप्तक के प्रकाश में 'दूसरे सप्तक के वक्तव्यों' को देखने से यह प्रतीत होना स्वाभाविक ही है कि काव्य के सम्बन्ध में नवागत पीढ़ी के कवि वर्ग गहराई से विचार नहीं कर पा रहे हैं।

भवानी प्रसाद मिश्र मूलत. व्यंजना के कवि हैं। उनकी कुछ प्रसिद्ध कविताएँ तो इसी संग्रह में आई हैं। 'गीत फ़रोश' उनकी बहुत प्रसिद्ध रचना है, जिसमें कि उन्होंने एक कवि को साधारण दूकानदार की तरह कविता बेचते हुए बतलाकर उसकी विवशता को व्यंजित किया है। भवानी भाई की अन्य कई सुन्दर रचनायें भी इसमें संकलित हुई हैं। लोकगीत की शैली पर लिखा हुआ यह गीत तो देखिए—

> पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
> हरियाली छा गई हमारे सावन सरसा री।
> बादल छाये आसमान में धरती फूली री,
> अरी सुहागिन भरी माँग में भूली भूली री।
> बिजरी चमकी भाग सखी री, दादुर बोले री।
> अध प्राण हो बही, उड़े पछी अनमोले री।
> छन छन उठी हिलोर मगन मन पागल दरसा री।
> पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री॥

लोकगीतों की ध्वनि पर हिन्दी कविता लिखने के ऐसे ही सुन्दर, सफल, मार्मिक और कलापूर्ण प्रयास किये गये तो निश्चय ही हम काल्पनिक जनता की अपेक्षा सही हाड़-मांस की बनी जनता के पास अधिक पहुँच सकेंगे और जातीय रूपविधान को अधिकाधिक मात्रा में काव्य में उतारने में सक्षम होंगे। 'गीत फरोश' शीर्षक कविता में एक साथ ही कवि की विवशता, तज्जन्य अवसरवादिता और समाज की कठोरता तथा निर्ममता व्यंजित होती है जो एक साथ अनूठी है। केदारनाथ अग्रवाल ने काफी पहले 'वतन बेचता हूँ' शीर्षक कविता में इस प्रकार का प्रयोग किया था। 'सतपुड़ा के घने जंगल', 'प्रलय', सन्नाटा आदि रचनाएँ काफी सुन्दर हैं। कवि के कथन में सादगी के साथ वक्रता इस प्रकार गुँथी हुई है जैसे खादी के सूत के साथ रेशम का सूत गुँथा हुआ हो।

वर्जनाओं से ही है। यदि यह ठीक है तो शमशेर की कविताएँ इसी दिशा में एक व्यावहारिक कदम है। अब प्रश्न सफलता तथा नवीनता का है। सफलता तो प्रायः किसी कवि को मिली नहीं। फिर सभी अन्वेषी (?) हैं। काव्यगत अस्पष्टता को नवीनता का पर्याय कोई भी बुद्धिवादी मानने को तैयार होगा यह नहीं कहा जा सकता। शमशेर की 'शरीर स्वप्न' शीर्षक कविता देखिए—

'मकई से लाल गेहुँए तनुए
मालिश से चिकने हैं ''
सूखी भूरी झाड़ियों में ध्वस्त
चलती फिरती गिलहरियाँ। ''
'मोटी डालें, जाघों से न बड़ें'
सूरज को आइना जैसे नदियां
इन मर्दाना रानों की चमक
'इन' को खूब पसन्द। ''''

यह वन शिव का स्थान
शान्ति ज्योति में लय है ध्यान
नभ गंगा की शक्ति
सदा बरसती यहाँ।'''
वज्र गिरि कमर कठोर
सीधा चढ़ता उर्ध्व दिशा की ओर।
शेष
नीला सूनापन।'

'तार सप्तक' में माचवे ने Make उपस्थित करने की बात कही थी। पर यह सब क्या है? अनेकों अनुभूतियों को एक साथ उपस्थित कर व्यक्तित्व को मात्र माध्यम बनाते रहने से श्रेष्ठ कविता की सृष्टि करने का इलियटवादी रास्ता है और इसीलिए अनेक अनुभूतियाँ तो उपमा और रूपक के माध्यम से इकट्ठी हो सकती हैं पर कविता के लिए व्यक्तित्व का तटस्थता का सिद्धान्त काव्य की मूल आत्मा के ही विपरीत है। आलोचना का एक फैशन भर। इस कविता के कटि और

(१) 'सोने की यह मेघ चील
अपने चमकीले पखो मे ले अधकार
बैठ गई दिन अडे पर
नदी वधू की नथ का मोती चील ले गई।'
(२) 'गगन बीड से सूरज ग्वाला हाक रहा है दिन की गायें।'
(३) 'साँझ, दिवस की पत्नी, अपने नील महल मे बैठी कात
रही है बादल'
(४) 'चीन देश की वसुधा अपने स्तन से दूध पिलाती उस टापू को।
ज्वालामुखी मस्तक है जिसका
दूर छिपकली-सा वह टापू है जापान देश का
जो कि मर चुका एटम बम से
डूब गई बूटो की टापें, सिसक रहा कोढ़ी का जीवन
विज्ञापन धुएँ के अजगर-सा है लील रहा सब
रग रेशमी मनुश्रद्धा का।
हीरोशिमा मे मनुज मर गया'
(५) याक् बैल पर बर्फ ओढ़ कर हिमगिरि को अच्छा लगता है ब्रह्मदेश
तक चलते जाना

अपने छन्द, लय और अलकारो के प्रयोगों के द्वारा रघुवीर सहाय हिन्दी पाठको के परिचित हैं। उनकी कई श्रेष्ठ रचनाएँ इस सग्रह से बाहर ही हैं जो पाठक की अतृप्ति का कारण बनती हैं। इस सग्रह मे रघुवीर सहाय की जो रचनाएँ सकलित हुई हैं वे बहुत ही एकागी हैं। और उनके काव्य की व्यापकता पर प्रकाश नही डालतीं। इन कविताओ के प्रयोग अधिकाशत अपने तक सीमित हैं और अन्तर्मन की निविडता मे सम्बन्ध रखते हैं। सन्ध्या शीर्षक कविता देखिये—

'खिचा चला आता है दिन का सोने का रथ
ऊँची-नीची भूमि पर कर
अब दिन डूब रहा है जैसे
कोई अपनी बीती बातें सुना रहा हो
पत्तो पर की दूब घास मे उलझ-उलझकर
उजले-उजले अनबोये खेतों मे होकर
धूप अनमनी-सी वापिस लौटी जाती है।

किन्तु इसका आशय यह न निकाला जाय कि रघुवीर सहाय की इस सग्रह मे जो कविताएँ आयी हैं, उनकी श्रेष्ठता कम है। परन्तु उनका दोष यही है कि वे मन की निविडता मे अधिक खोई-सी लगती है।

धर्मवीर भारती इस सग्रह के अन्तिम कवि हैं। जहाँ तक रोमानीपन का

चाह करता है। इसका प्रमुख कारण यही है कि गतिशील भूत जगत् में अन्य वस्तुओं की भाँति सौन्दर्य में भी मानो परिवर्तन होता है। रीतिकाल का स्थूल चित्रण उस युग विशेष की सौन्दर्य भावना का ही चित्र है, किन्तु छायावादी युग का कलाकार इसे कामलिप्सा के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता है और छायावाद का अतीन्द्रिय वायवी और मनोगत चित्रण आज मानसिक क्षय का परिचायक माना जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सौन्दर्य का कोई स्थिर धर्म नहीं। वह तो युग सापेक्ष है। नवीनता और सुन्दरता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अस्तु, नवीन रूप की खोज में कलाकार का मन सौन्दर्य के नवीन रूप की ओर आकृष्ट होता है। आज बदली हुई परिभाषा में सौन्दर्य का अर्थ है—'स्वस्थ, प्रकृत'।

इसी प्रयास में मानव-मन सौन्दर्य के प्राचीन अर्थ को तोड़ता हुआ—वह रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करता है। अब उसके स्थान पर नवीनता को स्थापित करने का प्रयत्न करता है। उसी प्राचीनता के स्थान पर जब वह नवीनता को स्थापित करने का प्रयत्न करता है तो प्राय अटपटा-सा लगता है। काव्य के क्षेत्र में ये प्रयोग प्राय दो प्रकार के होते हैं। एक भाव के क्षेत्र में और दूसरे शैली के क्षेत्र में। वर्ण्य विषय को लेकर भाव के क्षेत्र में तो क्रान्ति शीघ्र ही हो जाती है। कारण इसका स्पष्ट है— सामाजिक गतिक्रम का क्षिप्र होना। कोई भी काव्य बदली हुई परिस्थिति में सामाजिक गतिक्रम की उपेक्षा कर जीवित नहीं रह सकता। फलत भाव के क्षेत्र में नूतनता का श्रीगणेश शीघ्र ही हो जाता है। जहाँ भाव के क्षेत्र में क्रान्ति के अभाव में प्रयोग न होकर नवीन वर्ण्य विषय प्राप्त नहीं होते, साहित्य एक संकुचित दायरे में बँद हो जाता है, उसका जीवन से सम्बन्ध टूट जाता है और वह कतिपय भावानुभूतियों के आधार पर रचा जाकर एक शैलीमात्र बन जाता है। फलत साहित्य की जीवन्त धारा का मुक्त प्रवाह रुकता हुआ कुण्ठित होता है और मजबूर होकर भाव के क्षेत्र में क्रान्ति के नये अंकुर फूट जाते हैं। युग विपर्यय का यही मूल कारण है। भाव के क्षेत्र में जहाँ सुन्दरता के परम्परागत अर्थों को तोड़कर प्रकृत रूप का उद्घाटन किया गया है एवं प्राचीनता के स्थान पर इस नवीन रूप का आरोप मनःसंस्कारवश मस्तिष्क को प्राय अटपटा-सा लगता है, कुछ भद्दा-सा लगता है। इसी कारण हिन्दी वालों ने इस प्रकार के प्रयोगों को प्रयोगवाद के नाम से अभिहित किया है। किन्तु यह अटपटापन सर्वत्र दिखायी नहीं देता वरन् कहीं-कहीं जीवन के अन्तरंग [illegible] का चित्र उपस्थित करने के कारण उसमें एक [illegible] आकर्षण रहता है। श्री गिरिजाकुमार माथुर की [illegible] की पूरी कविता का यह अंश देखिए—

[illegible] एक बार ही [illegible]

[illegible] रही।

बीसियो साइकिलो की पातें,
कैरियर टोकरी या हैंडिल में
कुछ के खाली वटोरदान बँधे,
कुछ मे हैं फाइलें हर छिन भूखी
जो न कभी खत्म हुई आफिस मे।
हैं जग कम ही टोकरियाँ ऐसी,
जिनमे आते हैं मौसमी फल फूल।
या कि फुटपाथ पर बिकती चीजें,
मूँगफलियाँ, गरी, केले, अमरूद
या डबलरोटी, केक, बन, बिस्कुट
'चीज' टिन-फ्रूट सिरप या मिरके,
ऐसी किस्मत की टोकरी कम हैं।'

यह चित्र बहुत ही लम्बा है और सभ्य वर्ग या आफिस के क्लर्कों का एक मार्मिक जीवन चित्र उपस्थित करता है। यह तो हुई नवीन भाव तथा वस्तु की बात, किन्तु शैली के क्षेत्र मे कलाकार शीघ्र ही परिवर्तन करने की ओर उन्मुख नहीं होता, किन्तु पुरानी *अभिव्यजना की पद्धति* पर जीवन का नूतन संगीत मुखरित हो नहीं पाता और विवशता बार-बार पीछे की ओर ठेल देती है। इसका कारण यही है कि जीवन काफी आगे बढ़ जाता है, किन्तु शैली के क्षेत्र मे अभी भी प्राचीन जीवन से दिये गये रूढ़ प्रतीक और उपमान पूर्ववत हावी हैं। अत. जब जीवन आगे बढ़ जाता है, जीवन (प्राचीन) से लिये गये प्रतीक और उपमान जीवन से सम्बन्ध न रखने के कारण काल्पनिक और हवाई हो जाते हैं। यह प्राचीन रूढ़ एवं परम्पराबद्ध अभिव्यंजना पद्धति जीवन से सम्बन्ध रखने के कारण प्राचीनोन्मुख हो जाती है और इस प्रकार उठती हुई नवीन भावनाओं को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहती है। साथ ही मनुष्य के मस्तिष्क पर इस शैली का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है, इसलिए कलाकार जब नवीन भावो को अभिव्यक्त करने की ओर उन्मुख होता है तब उसे संस्कारवश एवं अन्य प्रणाली के अभाव मे, इस प्राचीनोन्मुख शैली को धारण ग्रहण करनी पड़ती है जो जैसा कि पहले कहा जा चुका है—नवीन भावनाओं को अपने पूर्ण एवं सही रूप में अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं है। कई बार लेखक को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। जब लेखक अपने दैनिक जीवन की परिस्थिति विशेष को, पारिवारिक व सामाजिक कठिनाइयों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है, काव्य का चोला पहनाना चाहता है तथा तब यह कठिनाई मूर्तिमान होकर सम्मुख उपस्थित होती है, *उस समय लेखक के मानस मे एक प्रकार का संघर्ष उत्पन्न होता है।* यह संघर्ष होता है शैली और वस्तु के बीच में। वस्तु चाहती है कि वह जिस रूप में

दर्शन बनने की चमन।'

ठीक इन्हीं कारणों को लेकर प्रयोगवाद की नई कविता का जन्म हुआ ज
सर्वेतन रूप में नवीन शिल्प का आग्रह करती है और जिसमें जीवन संघर्ष से
उद्भूत नूतनतम अनुभूति को उसी तीखेपन के साथ, जितना कि कलाकार ने
अनुभव किया है, अभिव्यक्त करने का प्रयास भर रहता है। इस प्रयास के अन्तर्गत
लेखक प्राचीन शैली का परित्याग कर एक नई शैली के निर्माण में संलग्न होता है,
जिसमें रूढ़, परम्परागत एवं बंधे हुए प्रतीक उपमान तथा वाक्य विन्यास न
रहें—जो वास्तविकता से दूर केवल कल्पना की ही वस्तु रह गये हैं। लेखक नव
भावाभिव्यंजना में सक्षम नवीन प्रतीक एवं उपमानों का सहारा लेता है। एक
उदाहरण देखिये—

जो हो मुझे तुम दीखते हो कछुए,
मानों भारत संस्कृति प्रतीक,
जिसे जरा सी छुए ना छुए,
नए ज्ञान की सूक्ष्म सींकदार
कि वह सिहर कर
छुई मुई सी—
बन जाएगी सिमुट सिमुट कर
गुड़ी मुड़ी सी—
अविचल, सिर्फ गोठ की गोठ
नकारात्मक दिखला देगी
करी, चिकनी, निपट पीठ ही पीठ—
प्रयोग के लिए यह आग्रह तो कदापि
[illegible] के साथ ही सफल होगा। हाँ,

रूरी बतलाया है।

इन्ही प्रयोगो को दृष्टि मे रखते हुए हम 'टूटती शृंखला' पर विचार करेंगे। ो महेन्द्र भटनागर के इस सग्रह मे सभी प्रकार के प्रयोग दिखलाई देंगे। मुख्यत न प्रयोगो को तीन रूपो में देखा जा सकता है—(१) छन्द विधान मे, (२) पमान तथा प्रतीक की नूतन योजना तथा भाषा की अभिव्यंजना शक्ति के लिए ए गए शब्दो के ऐकान्तिक तथा पारिभाषिक प्रयोग। तथा (३) जीवन की कटता से नवीन सौंदर्य चेतना को जगाकर संवेदन उत्पन्न करने वाले चित्र। न्द का एक विधान देखिये—

'अँधेरा है अँधेरा है,
कि चारों ओर काले अधतम का ही
बसेरा है।
कि जिसने सब दिशाओं को,
कुटिल भय पाश से भर मौन घेरा है।'

प्रवाह की दृष्टि से यह प्रयोग एक साथ नया है। अनुभूति की गहराई कभी वर की विराटता की माँग करती है, और तब अपेक्षित भावना व्यक्त होती नजर ाती है। उपर्युक्त छन्द मे पहली पंक्ति से लेकर तीसरी पंक्ति तक स्वर मे उठाव ेता है और उसके बाद उसका प्रसार तथा आरोह मानो यह कह देता है कि ामने "सब दिशाओ को पाश मे भर मौन घेरा है।" वस्तुत यह छन्द हिन्दी ी मूल भावना (स्वर की उदात्तता) के अधिक निकट है। वैसे उर्दू के ढग के योग भी उन्होंने किये हैं, पर अपेक्षाकृत वे सफल प्रयोग नही है। जैसे—

'पूर्वरूप पर नवीन शक्ति जैतवार है।
दर्प की शिला तड़क रही नया प्रहार है।'

आगे देखिये कवि जहाँ ज्योति दिखाने का अवसर आता है, सिद्धान्त से मिलने ी बात कहना चाहता है—वह पुराने प्रतीक दीपक और मशाल को छोडकर टार्च' को चुनता है—जिससे आवश्यकतानुसार प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है। बकि दीपक आदि अनावश्यक रूप मे भी जलते रहते हैं। साथ ही अधकार में टार्च ले जाना और उससे अधकार पार करना, हमारे जीवन मे निकट से जुडा ुआ है। दीपक लेकर अधकार पार करनेवाला जीवन बहुत पुराना पड़ चुका है और सिद्धान्त की नवीन प्राण चेतना फूंकने के लिए दीप का प्रकाश अब अधिक शक्तिशाली नही रह गया है—

'सघन जीवन निशा विद्युत लिए मानो
अँधेरे में बटोही जा रहा हो टार्च ले,
जब-जब करे डगमग चरण